252.5ख
प्रज्ञा । ध
[illegible]

252.5 ख
प्रभा/ध

धम्मपदं

धम्मपदं

स्थविर ग० प्रज्ञानन्द

भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्
लखनऊ—२२६००१

प्रकाशक :

महासचिव

भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्ध विहार

रिसालदार पार्क, लखनऊ—२२६००१

फोन : ४७६५७

तृतीय संस्करण—३,०००

मूल्य : ८ रुपये

मुद्रक :

के० पी० आर्ट प्रेस

१०६/७, माडल हाउस, लखनऊ-२२६ ०१८

सिहदेवस्य प्रवारिकस्य साकेतकस्य देयधम्म ।

अर्थ—साकेत निवासी प्रावारिक सिंह देव का धर्मदान ।

सर जान मार्सल को सन् १९१०-११ में जेतवन महाविहार-श्रावस्ती के उत्खनन से प्राप्त (अभय मुद्रा में) भगवान् बुद्ध की मूर्ति है ।

दो शब्द

धम्मपदं के अपने अनुवाद के विषय में दो शब्द कहने के पूर्व पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन के इस पुस्तक के विषय में उद्‌गार कह देना उचित समझता हूँ। पूज्य भन्ते आनन्द ने धम्मपद के अपने अनुवाद की भूमिका में कहा है कि "एक पुस्तक और केवल एक पुस्तक जीवन भर साथी बनाने की यदि कभी आपकी इच्छा हुई है तो विश्व के पुस्तकालय में आपको धम्मपदं से बढ़कर दूसरी पुस्तक मिलना कठिन है।

जिस प्रकार महाभारत में भगवद्‌गीता एक छोटी, किन्तु अमूल्य कृति है, उसी प्रकार त्रिपिटक में धम्मपद एक छोटा किन्तु मूल्यवान रत्न है। काल की दृष्टि से भगवद्‌गीता की अपेक्षा धम्मपदं प्राचीनतर है।

भगवद्‌गीता की विशेषता है, कई दार्शनिक विचारों के समन्वय का प्रयत्न। इसीलिये गीता के टीकाकारों में आपस में मतभेद है, लेकिन धम्मपदं एक ही मार्ग है और एक ही शिक्षा है। उस पथ के पथिक का आदर्श निश्चित है

यह बात शायद सार्थक है कि गीता की अपेक्षा प्राचीनतर होते हुये भी धम्मपदं की केवल एक टीका धम्मपद अट्ठकथा—उपलब्ध है, और भगवद्‌गीता की हैं जितने पंडित उतनी भिन्न-भिन्न टीकायें।

भगवद्‌गीता की तरह धम्मपद का बड़ा प्रचार है। प्राचीनकाल में चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। वर्तमान काल में संसार की सभी सभ्य भाषाओं में—अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि में—कई-कई अनुवाद हो चुके हैं। श्री अल्बर्ट, जे० एड्‌मण्ड अपने अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं:—

'यदि एशिया खण्ड में कभी किसी अविनाशी ग्रन्थ की रचना हुई है, तो वह यह है।'

इन पदों ने अनेक विचारकों के हृदय में चिन्तन की आग जलाई है। इन्हीं से अनुप्राणित होकर अनेक चीनी यात्री मंगोलिया के

भयानक कान्तार और हिमालय की अनेक अलंघ्य चोटियाँ लाँघकर भगवान बुद्ध के चरणों से पूत भारत भूमि के दर्शनार्थ आये। इन्हीं को महाराज अशोक ने—जिन्होंने प्राणदण्ड का निषेध किया, मनुष्यों-जानवरों तक के लिए अस्पताल खोले—शिलालेखों पर अंकित कराया। आज दो हजार वर्ष से रोम और ईसाइयत की संस्कृति के प्रचार होते रहने पर भी, यूरोप और अमरीका के सभी विद्या मन्दिरों में कोपेन हेगन से कैम्ब्रिज तक और शिकागो से सेन्ट पीटर्सबर्ग (लेनिनग्राद) तक यह यूरोपियन व अमरीकन लोगों द्वारा श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।"

हिन्दी में भी कई एक अनुवाद हो चुके हैं। अतः इसकी आवश्यकता एवं विशेषता के विषय में किसी के मन में प्रश्न हो सकता है। प्रस्तुत धम्मपदं पालि भाषा के परीक्षार्थियों की दृष्टि से तैयार की गयी है। आशा है, पालि भाषा के विद्यार्थी इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

पाठ शुद्ध छपे, इसमें विशेष रुचि एवं परिश्रम श्री लंका के कैलणिय विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के ज्येष्ठ प्रवक्ता पूज्य मारम्ब रतन सार महास्थविर ने किया है। शब्दकोष को भी उन्होंने ही तैयार किया है। अतः मैं उनका विशेष ऋणी हूँ। इस धम्मपद में उनके सहयोग को स्वीकार करता हुआ मैं उनके स्वास्थ्य एवं दीर्घ जीवन की मंगलकामना करता हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के पालि-प्राध्यापक भदन्त देदुनुपिटिये सोमरतन महास्थविर का भी आभारी हूँ।

इस धम्मपद के शुद्धि-पत्र अवलोकन में लखनऊ विश्वविद्यालय के एम० ए० (हिन्दी) के विद्यार्थी श्रीलंका-निवासी भिक्षुज्ञानरतन का भी सहयोग है। अतः इन लोगों का मैं आभारी हूँ।

॥ भवतु सब्ब मंगलं ॥

७ जनवरी १९८३ स्थविर ग० प्रज्ञानन्द

विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	यमकवग्गो	२
२.	अप्पमादवग्गो	८
३.	चित्तवग्गो	१२
४.	पुप्फवग्गो	१६
५.	बालवग्गो	२०
६.	पंडितवग्गो	२४
७.	अरहन्तवग्गो	३०
८.	सहस्सवग्गो	३४
९.	पापवग्गो	४०
१०.	दण्डवग्गो	४४
११.	जरावग्गो	५०
१२.	अत्तवग्गो	५४
१३.	लोकवग्गो	५८
१४.	बुद्धवग्गो	६२
१५.	सुखवग्गो	६८
१६.	पियवग्गो	७२
१७.	कोधवग्गो	७६
१८.	मलवग्गो	८०
१९.	धम्मट्ठवग्गो	८६
२०.	मग्गवग्गो	९०
२१.	पकिण्णकवग्गो	९६
२२.	निरयवग्गो	१००
२३.	नागवग्गो	१०४
२४.	तण्हावग्गो	११०
२५.	भिक्खुवग्गो	११८
२६.	ब्राह्मणवग्गो	१२६
	गाथा सूची	I–XV

धम्मपदं

१. यमकवग्गो

१–मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं 'व वहतो पदं ॥ १ ॥

२–मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति छाया 'व अनपायिनी ॥ २ ॥

३–अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥ ३ ॥

४–अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥ ४ ॥

५–न ही वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ ५ ॥

१. यमकवर्ग

१–मन सभी धर्मों अर्थात कर्मों, प्रवृत्तियों या अनुभूतियों का अगुआ है। मन ही उनका प्रधान है। सारे कर्म, अनुभूतियाँ या प्रवृत्तियाँ मनोमय हैं। यदि कोई व्यक्ति दुष्ट मन से बोलता या काम करता है तो दुःख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे रथ का पहिया वाहन अर्थात् बैल या घोड़े के पैरों का ॥ १ ॥

२–मन सभी धर्मों अर्थात कर्मों, प्रवृत्तियों या अनुभूतियों का अग्रणी है, मन ही प्रधान है, सभी कर्म मनोमय हैं। यदि कोई प्रसन्न मन से बोलता है या काम करता है, तो सुख उसी प्रकार उसका अनुसरण करता है, जैसे कभी साथ न छोड़ने वाली छाया मनुष्य के पीछे-पीछे चलती है ॥ २ ॥

३–जो अपने मन में ऐसा सोचते रहते हैं कि उसने मुझे गाली दी, उसने मुझे मारा, उसने मुझे हरा दिया, उसने मुझे लूट लिया, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता ॥ ३ ॥

४–उसने मुझे गाली दी, उसने मुझे मारा, उसने मुझे हरा दिया, उसने मुझे लूट लिया—ऐसी बातें जो मन में नहीं सोचते, उनका वैर शान्त हो जाता है ॥ ४ ॥

५–संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता; अवैर से वैर शान्त होता है। यही सदा से होता चला आया सनातन मानव धर्म है ॥ ५ ॥

६–परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा॥ ६॥

७–सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं 'व दुब्बलं॥ ७॥

८–असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो वातो सेलं' व पब्बतम्॥ ८॥

९–अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन न सो कासावमरहति॥ ९॥

१०–यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति॥ १०॥

११–असारे मारमतिनो सारे चासारदस्सिनो।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा॥ ११॥

१२–सारञ्च सारतो ञत्वा असारञ्च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासङ्कप्पगोचरा॥ १२॥

१३–यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठि समतिविज्जति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति॥ १३॥

१४–यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति॥ १४॥

६–अज्ञ लोग नहीं जानते कि हम इस संसार से जाने वाले हैं। किन्तु जो इस बात को जानते और इसका निरन्तर चिंतन करते रहते हैं, उनके मन के सभी विकार शान्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

७–जो शुभ ही शुभ देखते हुए विहार करता है, इन्द्रियों में संयम नहीं करता, भोजन में मात्रा को नहीं जानता, आलसी और उद्योग-हीन रहता है, उसे 'मार वैसे ही डिगा देता है, जैसे दुर्बल वृक्ष को वायु ॥ ७ ॥

८–जो अशुभ को देखते हुए विहार करता है, जो इन्द्रियों में संयम करता है, जो भोजन में मात्रा को जानता है, जो श्रद्धावान और उद्योगी है, ऐसे पुरुष को मार नहीं हिला सकता जैसे कि वायु हिमालय पर्वत को ॥ ८ ॥

९–जो पुरुष राग, द्वेष आदि चित्त-मलों को बिना हटाये काषाय वस्त्र धारण करता है, संयम और सत्य से हीन वह व्यक्ति काषाय-वस्त्र धारण करने का अधिकारी नहीं है ॥ ९ ॥

१०–जिसने चित्त-मलों का त्याग कर दिया है, जो शीलों से सम्पन्न तथा संयम और सत्य से युक्त है, वही पुरुष काषाय-वस्त्र का अधिकारी है ॥ १० ॥

११–जो असार को सार और सार को असार समझते हैं, ऐसे मिथ्या संकल्पों से ग्रसित व्यक्ति सार को नहीं प्राप्त करते ॥ ११ ॥

१२–जो सार को सार और असार को असार समझते हैं, ऐसे सम्यक् संकल्प से युक्त पुरुष ही सार को प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

१३–जैसे ठीक तरह से न छाये हुए घर में वर्षा का जल घुस जाता है, वैसे ही ध्यान-भावना से रहित चित्त में राग घुस जाता है ॥१३॥

१४–जैसे ठीक तरह से छाये हुए घर में वर्षा का जल नहीं घुसता, वैसे ही ध्यान-भावना से सुभावित चित्त में राग नहीं घुस पाता ॥१४॥

१५–इध सोचति पेच्च सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति ।
सो सोचति सो विहञ्ञति दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥१५॥

१६–इध मोदति पेच्च मोदति कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति ।
सो मोदति सो पमोदति दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥१६॥

१७–इध तप्पति पेच्च तप्पति पापकारी उभयत्थ तप्पति ।
पापं मे कतन्ति तप्पति भीय्यो तप्पति दुग्गतिङ्गतो ॥१७॥

१८–इध नन्दति पेच्च नन्दति कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति ।
पुञ्ञं मे कतन्ति नन्दति भीय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो ॥१८॥

१९–बहुम्पि चे सहितं भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो ।
गोपो'व गावो गणयं परेसं न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥१९॥

२०–अप्पम्पि चे सहितं भासमानो धम्मस्स होति अनुधम्मचारी ।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो ।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा स भागवा सामञ्ञस्स होति ॥२०॥

यमकवग्गो निट्ठितो

१५–पाप करने वाला इस लोक में शोक करता है और करने के बाद परलोक में भी शोक करता है। पापी दोनों लोक में शोक को प्राप्त होता है। वह अपने मलिन कर्मों को देखकर शोक करता और पीड़ित होता है ॥ १५ ॥

१६–पुण्य कर्म करने वाला इस लोक में मोद करता है और मरने के बाद परलोक में भा मोद करता है, पुण्यात्मा दोनों स्थानों में मोद करता है। वह अपने कर्मों की विशुद्धि को देखकर प्रमुदित होता है ॥ १६ ॥

१७–पाप करनेवाला इस लोक में सन्तप्त होता है और मरने के बाद परलोक में भी सन्तप्त होता है। पापी दोनों स्थानों में सन्ताप को प्राप्त होता है। 'मैंने पाप किया है' यह सोचकर सन्ताप करता है तथा दुर्गति को प्राप्त हो और भी अधिक सन्ताप करता है ॥ १७ ॥

१८–जिसने पुण्य किया है वह इस लोक में आनन्द करता है, और परलोक जाकर भी आनन्दित होता है। पुण्यात्मा दोनों लोकों में आनन्द लाभ करता है। 'मैंने पुण्य किया है' यह सोचकर आनन्दित होता है तथा सुगति को प्राप्त हो और अधिक आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

१९–जो प्रमादी है, वह चाहे कितनी ही संहिताओं अर्थात् धर्म ग्रन्थों का पाठ करे किन्तु जो नर उसके अनुसार आचरण नहीं करता, वह दूसरों का गायें गिनने वाले ग्याले की भाँति 'श्रमणत्व' का अधिकारा नहीं होता ॥ १९ ॥

२०–चाहे कोई अल्प-मात्र संहिता का पाठ करनेवाला हो, किन्तु यदि वह धर्म के अनुसार आचरण करता हो, राग, द्वेष और मोह को त्यागकर भली भाँति सचेत और मुक्त-चित्त हो, यहाँ और वहाँ अर्थात् लोक और परलोक कहीं भी आसक्ति न रखता हो, तो वह 'श्रमणत्व' का अधिकारी होता है ॥ २० ॥

यमकवर्ग समाप्त

२. अप्पमादवग्गो

२१–अप्पमादो अमत-पदं पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ॥ १ ॥

२२–एतं विसेसतो ञत्वा अप्पमादम्हि पण्डिता ।
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ॥ २ ॥

२३–ते झायिनो साततिका निच्चं दल्हपरक्कमा ।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरं ॥ ३ ॥

२४–उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो ।
सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसोऽभिवड्ढति ॥४॥

२५–उट्ठानेन'प्पमादेन सञ्ञमेन दमेन च ।
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ॥ ५ ॥

२६–पमादमनुञ्जन्ति बाला दुम्मेधिनो जना ।
अप्पमादञ्च मेधावी धनं सेट्ठं'व रक्खति ॥ ६ ॥

२७–मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्धवं ।
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ॥ ७ ॥

२. अप्रमादवर्ग

२१–अप्रमाद अमृत-पद का साधक है और प्रमाद मृत्यू-पद का। अप्रमादी नहीं मरते, प्रमादी मरे के ही समान होते हैं ॥ १ ॥

२२–पंडित जन अप्रमाद के विषय में इस प्रकार विशेष रूप से जानकर श्रेष्ठ आचरण में रत हो अप्रमाद में प्रमुदित होते हैं ॥ २ ॥

२३–जो निरन्तर ध्यान-रत, नित्य दृढ़ पराक्रमी हैं, वे धीर पुरुष अनुत्तर योग-क्षेम आनंदमंगल वाले निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

२४–जो उद्योगी, सचेत, पवित्र कर्म करनेवाला, संयमी धर्मानुसार जीविका चलानेवाला एवं अप्रमादी है, उसका यश बढ़ता है ॥ ४ ॥

२५–मेधावी पुरुष उद्योग, अप्रमाद, संयम और दम द्वारा अपने लिए ऐसा द्वीप बनावें, जिसे बाढ़ डुबा न सके ॥ ५ ॥

२६–मूर्ख और दुर्बुद्धि जन प्रमाद में लगते हैं, किन्तु बुद्धिमान पुरुष श्रेष्ठ धन की भाँति अप्रमाद की रक्षा करते हैं ॥ ६ ॥

२७–प्रमाद में मत फँसो, काम-भोगों में मत फँसो, काम-रति में लिप्त मत हो। प्रमाद-रहित पुरुष ध्यान करने से महान सुख को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

२८–पमादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो ।
पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं ।
पब्बतट्ठो'व भुम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति ॥ ८ ॥

२९–अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो ।
अबलस्सं'व सीघस्सो हित्वा याति सुमेधसो ॥ ९ ॥

३०–अप्पमादे न मघवा देवानं सेट्ठतं गतो ।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सादा ॥ १० ॥

३१–अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा ।
सञ्ञोजनं अणुं थूलं डहं अग्गी' व गच्छति ॥ ११ ॥

३२–अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सिवा ।
अभब्बो परिहाणाय निब्बाणस्सेव सन्तिके ॥ १२ ॥

अप्पमादवग्गो निट्ठितो

२८–पंडित पुरुष जब अप्रमाद से प्रमाद को हटा देता है तब वह धीर पुरुष शोक रहित हो, प्रज्ञा-रूपी प्रासाद पर चढ़कर, शोकाकुल अज्ञानी प्रजा को वैसे ही देखता है जैसे पर्वत पर चढ़ा पुरुष भूमि पर स्थित वस्तु को ॥ ८ ॥

२९–प्रमादियों के बीच अप्रमादा तथा मोह-निद्रा में सोनेवालों के बीच प्रज्ञा से जाग्रत उत्तम बुद्धिवाला पुरुष उसी प्रकार आगे निकल जाता है जैसे तेज घोड़ा दुर्बल घोड़े से आगे निकल जाता है ॥ ९ ॥

३०–अप्रमाद अर्थात आलस्य-रहित होने के कारण मघवा (इन्द्र) देवताओं में श्रेष्ठ बना। अप्रमाद की सभी प्रशंसा करते हैं और प्रमाद की सदा निन्दा होती है ॥ १० ॥

३१–जो भिक्षु अप्रमाद में रत है अथवा प्रमाद से भय खानेवाला है वह अग्नि की भाँति छोटे-मोटे सभी बन्धनों को जलाते हुए आगे बढ़ता चला जाता है ॥ ११ ॥

३२–जो भिक्षु अप्रमाद में रत है अथवा प्रमाद से भय खानेवाला है उसका पतन होना संभव नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण के समीप पहुँचा हुआ है ॥ १२ ॥

अप्रमादवर्ग समाप्त

३. चित्तवग्गो

३३–फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो'व तेजनं ॥ १ ॥

३४–वारिजो'व थले खित्तो ओकमोकत उब्भतो।
परिफन्दति'दं चित्तं मारधेय्यं पहातवे ॥ २ ॥

३५–दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ-कामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं ॥ ३ ॥

३६–सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थकामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥ ४ ॥

३७–दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥ ५ ॥

३८–अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ॥ ६ ॥

३९–अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ॥ ७ ॥

३. चित्तवर्ग

३३–चित्त क्षणिक है, चंचल है, इसे रोक रखना और इसका निवारण करना कठिन है। किन्तु मेधावी पुरुष इसे उसी प्रकार सीधा करता है जैसे बाण बनानेवाला बाण को ॥ १ ॥

३४–जैसे जलाशय से निकालकर स्थल पर फेंक दी गई वारिज मछली तड़फड़ाती है, वैसे ही यह चित्त मार (राग-द्वेषादि) के फन्दे से निकलने के लिए तड़फड़ाता है ॥ २ ॥

३५–जिसका निग्रह करना कठिन है, जो बहुत हल्का होने से जहाँ चाहता है चला जाता है, ऐसे चित्त का दमन करना उत्तम है क्योंकि दमन किया हुआ चित्त सुखदायक होता है ॥ ३ ॥

३६–जिसे जानना कठिन है, जो अत्यंत चालाक है और जहाँ चाहता है झट चला जाता है। ऐसे चित्त की बुद्धिमान पुरुष रक्षा करे, क्योंकि सुरक्षित चित्त सुखदायक होता है ॥ ४ ॥

३७–दूरगामी, अकेला विचरनेवाला, निराकार, गुहाशयी इस चित्त का जो संयम करेंगे, वही मार के बन्धन से मुक्त होंगे ॥ ५ ॥

३८–जिसका चित्त स्थित नहीं है, जो सद्धर्म को नहीं जानता, जिसका चित्त प्रसन्नता से प्लावित नहीं है, उसकी प्रज्ञा पूर्ण नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

३९–जिसका चित्त राग द्वेषादि मलों से रहित है, जिसका चित्त स्थिर है, जो पाप-पुण्य-विहीन है, उस जाग्रत पुरुष के लिए भय नहीं है ॥ ७ ॥

४०—कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा ।
योधेथमारं पञ्ञायुधेन जितं च रक्खे अनिवेसनोसिया ॥८॥

४१—अचिरं वत'यं कायो पठविं अधिसेस्सति ।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं'व कलिङ्गरं ॥ ९ ॥

४२—दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं ।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो' नं ततो करे ॥ १० ॥

४३—न तं माता पिता कयिरा अञ्ञे वापि च ञातका ।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसोनं ततो करे ॥ ११ ॥

चित्तवग्गो निट्ठितो

४०–इस शरीर को घड़े के समान भंगुर जान, इस चित्त को नगर-गढ़ के समान रक्षित और दृढ़ जानकर, प्रज्ञा-रूपी हथियार लेकर मार से युद्ध करे। जीतने के बाद अपनी रक्षा करे और आसक्ति-रहित रहे ॥ ८ ॥

४१–अहो! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतना-रहित हो निरर्थक काठ की भाँति पृथिवी पर जा पड़ेगा ॥ ९ ॥

४२–जितनी हानि शत्रु-शत्रु की अथवा बैरी-बैरी की करता है, उससे कहीं अधिक हानि झूठे मार्ग पर लगा हुआ चित्त मनुष्य की करता है ॥ १० ॥

४३–जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बंधु, उससे कहीं अधिक भलाई मनुष्य का ठीक मार्ग पर लगा चित्त करता है ॥ ११ ॥

चित्तवर्ग समाप्त

४. पुप्फवग्गो

४४—को इमं पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इमं सदेवकं ।
को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥ १ ॥

४५—सेखो पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इमं सदेवकं ।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥ २ ॥

४६—फेणूपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो ।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥ ३ ॥

४७—पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं ।
सुत्तं गामं महोघो' व मच्चु आदाय गच्छति ॥ ४ ॥

४८—पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं ।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं ॥ ५ ॥

४९—यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं ।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे ॥ ६ ॥

५०—न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं ।
अत्तनो'व अवेक्खेय्यं कतानि अकतानि च ॥ ७ ॥

४. पुष्पवर्ग

४४—इस पृथिवी को तथा देवताओं-सहित उस यम-लोक को कौन जीतेगा ! कौन चतुर पुरुष सुन्दर रूप से उपदेश किये हुए धर्म के पदों को पुष्प की भाँति चुनेगा ॥ १ ॥

४५—स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी शैक्ष पुरुष ही इस पृथिवी को एवं देवताओं-सहित यम-लोक को विजय करेगा। कुशल शैक्ष पुरुष ही सुन्दर रूप से उपदेश किये हुए धर्म के पदों को पुष्प की भाँति चयन करेगा ॥ २ ॥

४६—इस काया को फेन के समान अथवा मरु-मरीचिका के समान मानकर, मार के फन्दे को तोड़कर, यमराज को न दिखाई देनेवाले बनो ॥ ३ ॥

४७—भोगैश्वर्य के फूलों को चुननेवाले आसक्ति-युक्त मनुष्य को मृत्यु उसी प्रकार बहा ले जाती है जैसे सोते हुए गाँव को बड़ी बाढ़ ॥ ४ ॥

४८—भोगैश्वर्य-रूपी फूलों को चुननेवाले आसक्ति-युक्त पुरुष को काम भोगों में अतृप्त रहते हुए ही, मौत अपने वश में कर लेती है ॥ ५ ।

४९—जैसे भ्रमर पुष्प के वर्ण और गन्ध को बिना हानि पहुंचाये, रस को लेकर चल देता है, वैसे ही मुनि ग्राम में भिक्षाटन करे ॥ ६ ॥

५०—न तो दूसरों के विरोधी (वचन) पर ध्यान दे, न दूसरों के कृत्याकृत्य को देखे, केवल अपने ही कृत्याकृत्य का अवलोकन करे ॥ ७ ॥

५१–यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं ।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ॥ ८ ॥

५२–यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं ।
एवं सुभासिता वाचा सफला होति सकुब्बतो ॥ ९ ॥

५३–यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू ।
एवं जातेन मच्चेन कत्तब्बं कुसलं बहुं ॥ १० ॥

५४–न पुप्फगन्धो पटिवातमेति न चन्दनं तगरमल्लिका वा ।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति ॥ ११ ।

५५–चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी ।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो ॥ १२ ॥

५६–अपमत्तो अयं गन्धो या'यं तगरचन्दनी ।
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो ॥ १३ ॥

५७–तेसं सम्पन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं ।
सम्मदञ्ञाविमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति ॥ १४ ॥

५८–यथा संकारधानस्मिं उज्झितस्मिं महापथे ।
पदुमं तत्थ जायेथ सुचिगन्धं मनोरमं ॥ १५ ॥

५९–एवं संकारभूतेसु अन्धभूते पुथुज्जने ।
अतिरोचति पञ्ञाय सम्मासम्बुद्धसावको ॥ १६ ॥

पुप्फवग्गो निट्ठितो

५१–जैसे सुन्दर वर्णयुक्त निर्गन्ध पुष्प होता है, वैसे ही (कथनानुसार) आचरण न करनेवाले के लिए सुभाषित वाणी भी निष्फल होती है ॥ ८ ॥

५२–जैसे सुन्दर वर्णयुक्त सुगन्धित पुष्प होता है, वैसे ही (कथनानुसार) आचरण करने वाले की सुभाषित वाणी सफल होती है ॥ ९ ॥

५३–जैसे पुष्पराशि से बहुत-सी मालाये बनाये, ऐसे ही उत्पन्न हुए प्राणी को बहुत पुण्य (भले काँर्य) करना चाहिए ॥ १० ॥

५४–पुष्प, चन्दन, तगर या चमेली किसी की भी सुगन्ध उल्टी हवा नहीं जाती, किन्तु सज्जनों की सुगन्ध उल्टी हवा भी जाती हैं। सत्पुरुष सभी दिशाओं में सुगन्ध बहाता है ॥ ११ ॥

५५–चन्दन या तगर कमल या जूही, इन सभी की सुगन्धों से शील (=सदाचार) की सुगन्ध उत्तम है ॥ १२ ॥

५६–तगर और चन्दन की जो यह गन्ध फैलती है, वह अल्पमात्र है, और जो यह शीलवानों की गन्ध हैं वह उत्तम (गन्ध) देवताओं में फैलता है ॥ १३ ॥

५७–जो वे शीलवान निरालस हो विहरने वाले, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो गये हैं, उनके मार्ग को मार नहीं पाता ॥ १४ ॥

५८-५९–जैसे बड़ी सड़क के किनारे फेंके कूड़े के ढेर पर कोई सुगन्धित सुन्दर पद्म उत्पन्न होवे, ऐसे ही कूड़े के समान अन्धे पृथक-जनों में सम्यक् सम्बुद्ध का श्रावक अपनी प्रज्ञा से अत्यधिक शोभित होता हैं ॥ १५-१६ ॥

पुष्पवर्ग समाप्त

५. बालवग्गो

६०–दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं ॥ १ ॥

६१–चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दल्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता ॥ २ ॥

६१–पुत्ता म'त्थि धनम्मत्थि इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तानो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धनं ॥ ३ ॥

६३–यो बालो मञ्ञती बाल्यं पण्डितो वापि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी स वे बालो'ति वुच्चति ॥ ४ ॥

६४–यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ॥ ५ ॥

६५–मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति जिव्हा सूपरसं यथा ॥ ६ ॥

६६–चरन्ति बाला दुम्मेधा अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्ता पापकं कम्मं यं होति कटुकप्फलं ॥ ७ ॥

५. बालवर्ग

६०–जागनेवाले को रात लम्बी होती हैं। थके हुए के लिए योजन लम्बा होता हैं। सद्धर्म को न जाननेवाले मूढ़ों के लिए संसार (-चक्र) लम्बा होता है ॥ १ ॥

६१–विचरण करते यदि अपने से श्रेष्ठ या अपने समान व्यक्ति को न पाये, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरे। मूर्ख का संगति अच्छी नहीं ॥ २ ॥

६२–'मेरा पुत्र है' मेरा धन है,—इस प्रकार मूर्ख परेशान होता है, जब मनुष्य अपना आप नही हैं, तो पुत्र और धन उसके कहां तक होंगे ॥ ३ ॥

६३–जो मूर्ख अपनी मूर्खता को समझता है, इस कारण वह पण्डित है। जो मूर्ख हो अपने को पण्डित समझता है, वही यथार्थ में मूर्ख है ॥ ४ ॥

६४–यदि कोई मूर्ख जीवन भर पण्डित के साथ रहे, तो भी वह धर्म को वैसे ही नहीं जान सकता है, जैसे कि कलछी दाल (=सूप) के रस को ॥ ५ ॥

६५–यदि विज्ञ पुरुष एक मुहूर्त भी पण्डित की सेवा में रहे तो वह शीघ्र ही धर्म को जान लेता है जैसे कि जिह्वा दाल के रस को ॥ ६ ॥

६६–दुर्बुद्धि मूर्ख स्वयं अपना शत्रु होकर पाप-कर्म करते विचरण करते है, जिसका फल कड़ुआ होता है ॥ ७ ॥

६७–न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति ।
यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ॥ ८ ॥

६८–तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति ।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥ ९ ॥

६९–मधुवा मञ्ञति वालो याव पापं न पच्चति ।
यदा च पच्चति पापं अथ वालो दुक्खं निगच्छति ॥ १० ॥

७०–मासे मासे कुसग्गेन वालो भुञ्जेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ॥ ११ ॥

७१–न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं'व मुच्चति ।
डहन्तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नो'व पावको ॥ १२ ॥

७२–यावदेव अनत्थाय ञत्तं बालस्स जायति ।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं मुद्धमस्स विपातयं ॥ १३ ॥

७३–असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु ।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च ॥ १४ ॥

७४–ममेव कतमञ्ञन्तु गिहीपब्बजिता उभो ।
ममेव अतिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि ।
इति बालस्स सङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति ॥ १५ ॥

७५–अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान-गामिनी ।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको ॥
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये ॥ १६ ॥

बालवग्गो निट्ठितो

६७–वह काम करना ठीक नहीं, जिसे करके पीछे पछताना पड़े और जिसके फल को अश्रुमुख हो रोते हुए भोगना पड़े ॥ ८ ॥

६८–वही काम करना ठीक है, जिसे करके पछताना न पड़े और जिसके फल को प्रसन्न मन से भोग करे ॥ ९ ॥

६९–जब तब पाप-कर्म का विपाक नहीं मिलता, तब तक मूर्ख उसे मधु के समान समझता है, किन्तु जब उसका फल मिलता है, तब मूर्खजन दुःख को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

७०–यदि कोई मूर्ख महीने-महीने पर कुश की नोंक से भोजन करे तो भी वह धर्म के जानकार के सोलहवें अंश का भी अधिकारी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

७१–जैसे ताजा दूध शीघ्र ही जम नहीं जाता, ऐसे ही किया गया पाप-कर्म शीघ्र ही अपना फल नहीं लाता। राख से ढँकी आग की भाँति वह जलाता हुआ मूर्ख का पीछा करता है ॥ १२ ॥

७२–मूर्ख का जितना भी ज्ञान होता है, वह उसके ही अनर्थ के लिए होता है। वह मूर्ख की अच्छाई का नाश करता है और उसकी प्रज्ञा (=सिर) को नीचे गिरा देता है ॥ १३ ॥

७३-७४–भिक्षुओं के बीच अगुआ होना, मठों का अधिपति बनना, गृहस्थ परिवारों में पूजित होना, गृह और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया मानें, सभी प्रकार के काम में वे मेरे ही अधीन रहें—ऐसा मूर्ख का संकल्प होता है, जिससे उसकी इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं ॥ १४-१५ ॥

७५–लाभ का रास्ता दूसरा है और निर्वाण को ले जाने वाला रास्ता दूसरा—इस प्रकार इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन न करे, और विवेक(=एकान्तवास)को बढ़ावे ॥ १६ ॥

बालवर्ग समाप्त

६. पण्डितवग्गो

७६–निधीनं'व पवत्तारं यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स सेय्यो होति न पापियो॥ १॥

७७–ओवदेय्यानुसासेय्य असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति असतं होति अप्पियो॥ २॥

७८–न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे॥ ३॥

७९–धम्मपीति सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो॥ ४॥

८०–उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति पण्डिता॥ ५॥

६. पण्डितवर्ग

७६–निधियों को बतलाने वाले की भाँति दोष दिखाने वाले को प्रिय समझें वैसे संयमवादी, मेधावी पण्डित का साथ करे, क्योंकि वैसे सत्पुरुष का साथ करने से कल्याण ही होता है, बुरा नहीं ॥ १ ॥

७७–जो सदुपदेश दे, सुमार्ग दिखाये तथा कुमार्ग से निवारण करे, .ह सज्जनों को प्रिय होता है किन्तु दुर्जनों को अप्रिय ॥ २ ॥

७८–बुरे मित्रों का साथ न करे, अधम-पुरुषों का संग न करे। अच्छे मित्रों का साथ करें उत्तम पुरुषों का संग करे ॥ ३ ॥

७९–धर्म-रस का पान करने वाला प्रसन्न चित्त से सुख पूर्वक सोता है, पण्डित बुद्ध के उपदिष्ट धर्म में सदा रत रहता है ॥ ४ ॥

८०–नहरवाले पानी को ले जाते हैं, वाण बनाने वाले वाण को ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं और पण्डितजन अपना दमन करते हैं ॥ ५ ॥

८१–सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥६॥

८२–यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥७॥

८३–सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति
न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥८॥

८४–न अत्तहेतु न परस्स हेतु
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया ॥९॥

८५–अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥१०॥

८६–ये च खो सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं ॥११॥

८७–कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं ॥१२॥

८१–जैसे ठोस पहाड़ हवा से नहीं डिगता, वैसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से नहीं डिगते ॥ ६ ॥

८२–धर्म को सुनकर पण्डित लोग गम्भीर, स्वच्छ, निर्मल जलाशय की भाँति शुद्ध हो जाते हैं ॥ ७ ॥

८३–सत्पुरुष सभी (छन्द-राग आदि) को त्याग देते हैं, वे कामभोगों के लिए बात नहीं चलाते । सुख मिले या दुःख पण्डितजन विकार नहीं प्रदर्शन करते ॥ ८ ॥

८४–जो अपने लिए या दूसरों के लिए पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहता और न अधर्म से अपनी उन्नति चाहता है, वही शीलवान्, प्रज्ञावान और धार्मिक है ॥ ९ ॥

८५–मनुष्यों में पार जाने वाले थोड़े हा हैं, यह दूसरे लोग तो किनारे ही किनारे-किनारे दौड़ने वाले हैं ॥ १० ॥

८६–जो भली प्रकार उपदिष्ट धर्म का अनुचरण करते हैं वे ही अति दुस्तर मृत्यू गृहीत संसार सागर को पार करेंगे ॥ ११ ॥

८७–पण्डित बुरी बात को छोड अच्छी का अभ्यास करे । घर से बेघर हो एकान्त स्थान में रहे ॥ १२ ॥

८८—तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो ।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥१३॥

८९—येसं सम्बोधि-अङ्गेसु सम्मा चित्तं सुभावितं ।
आदान-पटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता ।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ॥१४॥

पंडितवग्गो निट्ठितो

८८–भोगों को छोड़ अकिंचन हो वहीं रत रहने की इच्छा करे। पण्डित चित्त के मलों से अपने को शुद्ध करे ॥ १३ ॥

८६–जिनका चित्त सम्बोध्यंगों में अच्छी तरह अभ्यस्त हो गया है, जो अनासक्त हो परिग्रह के परित्याग पूर्वक अपरिग्रह में रत जो क्षीणाश्रव और द्युतिमान हैं वे ही लोक में निर्वाण पा चुके हैं ॥ १४ ॥

पण्डितवर्ग समाप्त

७. अरहन्तवग्गो

९०–गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।
सब्बगन्थप्पहीणस्स परिलाहो न विज्जति ॥१॥

९१–उय्युंजन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते ।
हंसा'व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ॥२॥

९२–येसं सन्निचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे'व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया ॥३॥

९३–यस्या'सवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सितो ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे'व सकुन्तानं पदं तस्स दुरन्नयं ॥४॥

९४–यस्सिन्द्रियाणि समथं गतानि,
अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता ।
पहीणमानस्स अनासवस्स'
देवा'पि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥५॥

७. अर्हन्तवर्ग

९०–जिसने मार्ग तय कर लिया है, जो शोक रहित तथा सर्वथा विमुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियाँ प्रहीण हो गई हैं, उसे कोई कष्ट नहीं ॥ १ ॥

९१–स्मृतिमान ध्यान विपश्यना आदि में लगे रहते हैं, वे गृह में रत नहीं होते। वे सरोवर को छोडकर चले जाने वाले हंस की भाँति गृह को त्याग देते हैं ॥ २ ॥

९२–जो संचय नहीं करते, जो भोजन में संयत हैं, शून्य और अनिमित्त विमोक्ष (=निर्वाण) जिनका गोचर (=विचरण-स्थान) है, उनकी गति आकाश में पक्षियों की गति की भांति अज्ञेय है ॥ ३ ॥

९३–जिसके आश्रव (=मल) क्षीण हो गये है, जो आहार में आसक्त नहीं तथा शून्य और अनिमित्त विमोक्ष जिनका गोचर है, उनकी गति आकाश में पक्षियों की भाँति अज्ञेय है ॥ ४ ॥

९४–सारथी द्वारा दमन किये अश्व के समान जिनकी इन्द्रियाँ शान्त हो गई हैं, वैसे अहंकार रहित अनाश्रव सन्त (=अर्हत) को देवता भी स्पृहा (=चाह) करते हैं ॥ ५ ॥

९५–पठवीसमो नो विरुज्झति,
इन्दखीलूपमो तादी सुब्बतो।
रहदो'व अपेतकद्दमो,
संसारा न भवन्ति तादितो ॥६॥

९६–सन्तं तस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञाविमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो ॥७॥

९७–अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो ॥८॥

९८–गामे वा यदि वा रञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ॥९॥

९९–रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमती जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति न ते कामगवेसिनो ॥१०॥

अरहन्तवग्गो निट्ठितो

९५–सुन्दर व्रतधारी तादि (=अर्हत्) पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होने वाला और इन्द्रकील के समान अकम्प होता है। वैसे पुरुष को कीचड़-रहित जलाशय की भाँति संसार (=मल) नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

९६–यथार्थ रूप से जानकर मुक्त हुए उपशान्त अर्हत का मन शान्त होता है, वाणी और कर्म शान्त होते हैं ॥ ७ ॥

९७–जो (अन्ध) विश्वास से रहित है, अकृत (=निर्वाण) को जाननेवाला है, (संसार की) सन्धि का छेदन करनेवाला है और उत्पत्ति रहित है, तथा जिसने सारी तृष्णा को वमन (=त्याग) कर दिया है, वही उत्तम पुरुष है ॥ ८ ॥

९८–गाँव में या जंगल में, नीचे या ऊँचे, जहाँ कहीं अर्हत विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय है ॥ ९ ॥

९९–वह रमणीय वन, जहाँ साधारण लोग रमण नहीं करते, वहाँ काम (=भोगों) को न खोजनेवाले वीतराग रमण करेंगे ॥ १० ॥

अरहन्तवर्ग समाप्त

८. सहस्सवग्गो

१००—सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥१॥

१०१—सहस्सपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता ।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥२॥

१०२—यो च गाथा सतं भासे अनत्थपदसंहिता ।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥३॥

१०३—यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्य मत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो ॥४॥

१०४—अत्ता हवे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा ।
अत्तादन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञतचारिनो ॥५॥

१०५—नेव देवो न गंधब्बो न मारो सह ब्रह्मुना ।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो ॥६॥

८. सहस्सवर्ग

१००–व्यर्थ के पदों से युक्त हजार वचनों की अपेक्षा सार्थक एक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर (मन) उपशान्त हो जाता है ॥ १ ॥

१०१–अर्थ रहित पदों से युक्त हजार गाथाओं की अपेक्षा एक गाथा पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर (मन) उपशान्त हो जाता है ॥ २ ॥

१०२–जो कोई अनर्थ-पदों से युक्त सौ गाथायें भी कहे, उससे धर्म का एक पद भी श्रेष्ठ हैं जिसे सुनकर (मन, उपशान्त हो जाता है ॥३॥

१०३–जो संग्राम में हजारों मनुष्यों को जीत ले, उससे उत्तम संग्राम विजयी वह है जो एक अपने आपको जीत लेता है ॥ ४ ॥

१०४-१०५–इन दूसरे प्रजाओं के जीतने की अपेक्षा अपने को जीतना श्रेष्ठ है। अपने को दमन करने वाला और नित्य अपने को संयम करने वाला जो पुरुष है, उसके जीते को न देवता, न गन्धर्व, न ब्रह्मा सहित मार, बे-जीता कर सकते हैं ॥ ५-६ ॥

१०६–मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं।
एकञ्च भावितत्तानं मुहूत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥७॥

१०७–यो च वस्ससतं जन्तू अग्गिं परिचरे वने।
एकं च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥८॥

१०८–यं किंचि यिट्ठं व हुतं व लोके
संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बम्पि तं न चतुभागमेति
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥९॥

१०९–अभिवादनसीलिस्स निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ॥१०॥

११०–यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो ॥११॥

१११–यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झायिनो ॥१२॥

११२–यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दल्हं ॥१३॥

११३–यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयव्ययं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयव्ययं ॥१४॥

१०६–जो मनुष्य महीने-महीने हजार (=रुपये) दक्षिणा दे सौ वर्षों तक यजन करे, और यदि कोई परिशुद्ध मन वाले एक (पुरुष) को मुहूर्त भर भी पूजे, तो सौ वर्ष के हवन से वह पूजा ही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

१०७–जो प्राणी सौ वर्ष तक वन में अग्निहोत्र करे, और यदि कोई प्राणी परिशुद्ध मनवाले एक (पुरुष) को मुहूर्त भर भी पूजे, तो सौ वर्ष के हवन से वह पूजा ही श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

१०८–यदि पुण्य को चाहनेवाला वर्ष भर लोक में यज्ञ और हवन करे, तो भी वह सब ऋजुभूत (व्यक्तियों) को किये गये अभिवादन के चौथाई फल के बराबर भी नहीं होता, प्रत्युत अभिवादन ही श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

१०९–जो अभिवादन शील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करनेवाला है, उसकी चार बातें बढ़ती हैं—(१) आयु, (२) वर्ण, (३) सुख और (४) बल ॥ १० ॥

११०–दु:शील और चित्त का एकाग्रता रहित के सौ वर्ष के जाने से भी शीलवान और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

१११–दुष्प्रज्ञ और एकाग्रचित्तता रहित के सौ वर्ष के जीने से भी प्रज्ञावान और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

११२–आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़-उद्योगी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥

११३–पंचस्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश का मनन न करनेवाले के सौ वर्ष के जीवन से उत्पत्ति और विनाश का मनन करनेवाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है ॥१४ ॥

११४–यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं ॥११५॥

११५–यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥११६॥

सहस्सवग्गो निट्ठितो

११४–अमृत पद (निर्वाण) को न देखने वाले के सौ वर्ष के जीवन से, अमृत पद को देखने वाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ट है ॥ १५ ॥

११५–उत्तम धर्म को न जानने वाले के सौ वर्ष के जीवन से, उत्तम धर्म को देखनेवाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है ॥१६ ॥

सहस्सवर्ग समाप्त

९. पापवग्गो

११६—अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये ।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमती मनो ॥१॥

११७—पापञ्चे पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं ।
न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥२॥

११८—पुञ्ञञ्चे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनं ।
तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥३॥

११९—पापो'पि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति ।
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति ॥४॥

१२०—भद्रो' पि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति ।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ॥५॥

१२१—माप्पमञ्ञेथ पापस्स न मन्तं आगमिस्सति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो' पि पूरति ।
पूरति बालो पापस्स थोक-थोकम्पि आचिनं ॥६॥

१२२—मा'प्पमञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मन्तं आगमिस्सति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो'पि पूरति ।
पूरति धीरो पुञ्ञस्स थोक-थोकम्पि आचिनं ॥७॥

९. पापवर्ग

११६—पुण्य करने में शीघ्रता करे, पाप से चित्त को हटाये। पुण्य-कार्य में शिथिलता करने वाले का मन पाप में लग जाता है ॥ १ ॥

११७—मनुष्य यदि पाप कर दें तो उसे बार-बार न करे। उसमें रत न होवे, क्योंकि पाप का संचय दुःखदायक हाता है ॥ २ ॥

११८—यदि मनूष्य पुण्य करे, तो उसे बार-बार करे। उसमें खूब उत्साह बढ़ावे, क्योंकि पुण्य का संचय सुखदायक होता है ॥ ३ ॥

११९—जब तक पाप का फल नहीं मिलता, तब तक पाप को अच्छा ही समझता है, किन्तु जब पाप का फल मिलता है, तब उसे पाप दिखाई पड़ने लगते हैं ॥ ४ ॥

१२०—जब तक पुण्य का फल नहीं मिलता, तब तक पुण्यात्मा को भी पुण्य में मन नहां लगता है, किन्तु जब पुण्य का फल मिलता है, तब उसे पूण्य दिखाई पड़ने लगते हैं ॥ ५ ॥

१२१—"वह मेरे पास नहीं आयेगा"—ऐसा सोचकर पाप की अवहेलना न करे। जैसे पानी की बूंद के गिरने से घड़ा भर जाता है, ऐसे ही मूर्ख थोड़ा-थोड़ा संचय करते पाप को भर लेता है ॥ ६ ॥

१२२—"वह मेरे पास नहीं आयेगा"—ऐसा सोचकर पुण्य की अवहेलना न करें। जैसे पानी की बूंद के गिरने से घड़ा भर जाता है, ऐसे ही धीर थोड़ा-थोड़ा संचय करते पुण्य को भर लेता है ॥ ७ ॥

१२३–वाणिजो'व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो ।
विसं जीवितुकामो'व पापानि परिवज्जये ॥८॥

१२४–पाणिम्हि चे वणो नास्स हरेय्य पाणिना विसं ।
नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ॥९॥

१२५–यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।
तमेव बालं पच्चेति पापं
सुखुमो रजो पटिवातं'व खित्तो ॥१०॥

१२६–गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरियं पापकम्मिनो ।
सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा ॥११॥

१२७–न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ॥१२॥

१२८–न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चु ॥१३॥

पापवग्गो निट्ठितो

१२३–थोड़े काफिले और महाधनवाला व्यापारी जैसे भययुक्त मार्ग को छोड़ देता है, (या) जैसे जीने की इच्छावाला विष को छोड़ देता है, वैसे ही पुरुष पापों को छोड़ दे ॥ ८ ॥

१२४–यदि हाथ में घाव न हो और हाथ से विष ले ले, तो घाव रहित शरीर में विष नहीं लगता है, इसी प्रकार न करनेवाले को पाप नहीं लगता ॥ ९ ॥

१२५–जो दोष रहित शुद्ध निर्मल पुरुष को दोष लगाता है, उसी मूर्ख को उसका पाप लौटकर लगता है। जैसे कि सूक्ष्म धूलि को हवा के आने के रुख फेंकने से वह फेकनेवाले पर ही पड़ती है ॥ १० ॥

१२६–कोई गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कोई पाप-कर्म करने वाले नरक में जाते हैं, कोई सुगति वाले स्वर्ग को जाते हैं, और अनाश्रव (=क्षीणाश्रव) परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

१२७–न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर—संसार में कोई (ऐसा) स्थान नहीं है, जहाँ रहकर पाप-कर्मों (के फल) से प्राणी बच सके ॥ १२ ॥

१२८–न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर—संसार में कोई (ऐसा स्थान) नहीं है, जहां रहनेवाले को मृत्यू न सतावे ॥ १३ ॥

पापवर्ग समाप्त

१० दण्डवग्गो

१२९–सब्बे तसन्ति तण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥१॥

१३०–सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥२॥

१३१–सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति ।
अत्तानो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥३॥

१३२–सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति ।
अत्तानो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं ॥४॥

१३३–मा वोच फरुसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु तं ।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥५॥

१३४–स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा ।
एस पत्तोऽसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति ॥६॥

१३५–यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति गोचरं ।
एवं जरा च मच्चू च आयुं पाचेन्ति पाणिनं ॥७॥

१०. दण्डवर्ग

१२६ दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, अपने समान (इन बातों को) जानकर न किसी को (स्वयं) मारे और न मारने की प्रेरणा करे ॥ १ ॥

१३० सभी दण्ड से डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है, (इन बातों को) अपने समान जानकर न (किसी को) मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे ॥ २ ॥

१३१ जो सुख चाहनेवाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दण्ड से मारता है, वह मरकर सुख नहीं पाता ॥ ३ ॥

१३२ जो सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दण्ड से नहीं मारता है, वह मरकर सुख पाता है ॥ ४ ॥

१३३-१३४ कटु-वचन न बोलो, बोलने पर (दूसरे भी वैसे ही) तुझे बोलेंगे। प्रतिवाद दुखदायक होता है, उसके बदले में तुम्हें दण्ड मिलेगा यदि तुम अपने को टूटे काँसा की भाँति निःशब्द कर लोगे, तो तुमने निर्वाण पा लिया, तुम्हारे लिए प्रतिवाद नहीं रह गया ॥ ५-६ ॥

१३५ जैसे ग्वाला लाठी से गायों को चारागाह में ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाते हैं ॥ ७ ॥

१३६–अथ पापानि कम्मानि करं बालो न बुज्झति ।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो'व तप्पति ॥८॥

१३७–यो दण्डेन अदण्डेसु अप्पदुट्ठेसु दुस्सति ।
दसन्नंमञ्ञतरं ठानं खिप्पमेव निगच्छति ॥९॥

१३८–वेदनं फरुसं जानिं सरीरस्स च भेदनं ।
गरुकं वापि आबाधं चित्तक्खेपं व पापुणे ॥१०॥

१३९–राजतो वा उपस्सग्गं अब्भक्खानं व दारुणं ।
परिक्खयं व ञातीनं भोगानं व पभङ्गुरं ॥११॥

१४०–अथ व'स्स अगारानि अग्गि डहति पावको ।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सो पपज्जति ।१२॥

१४१–न नग्गचरिया न जटा न पङ्का
नानासका थण्डिलसायिका वा ।
रजो च जल्लं उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥१३॥

१४२–अलङ्कतो चेपि समं चरेय्य
सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी ।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु ॥१४॥

१४३–हिरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मिं विज्जति ।
यो निन्दं अप्पबोधति अस्सो भद्रो कसामिव ॥१५॥

१३६–पाप-कर्म करते समय मूर्ख उसे नहीं बूझता है, किन्तु पीछे (वह) दुर्बुद्धि अपने ही कर्मों के कारण आग से जले की भाँति अनुताप करता है ॥ ८ ॥

१३७-१४०–जो दण्ड-रहितों को दण्ड से पीड़ित करता है, निर्दोष को दोष लगाता है, वह शीघ्र ही इन दस बातों में से एक को प्राप्त होता है—(१) कड़ी वेदना, (२) हानि, (३) अंग का भंग होना, (४) भारी रोग, या (५) चित्त-विक्षेप (=पागलपन) को प्राप्त होता है। या (६) राजा से दण्ड को प्राप्त होता है, (७) भयानक निन्दा, (८) जाति-बन्धुओं का विनाश, (९) भोगों का क्षय, अथवा (१०) उनके घर को अग्नि=पावक जलाता है। काया छोड़ने पर वह दुर्बुद्धि नरक में उत्पन्न होता है ॥ ९-१२ ॥

१४१–जिस मनुष्य की आकांक्षाएँ समाप्त नहीं हुई हैं, उसकी शुद्धि न नंगे रहने से, न जटा से, न कीचड़ (लपेटने) से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से और न उकड़ूँ बैठ से होती है ॥ १३ ॥

१४२–अलंकृत रहते हुए भी यदि वह शान्त, दान्त, नियम तत्पर-ब्रह्मचारी तथा सारे प्राणियों के प्रति दण्ड-त्यागी है, तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है ॥ १४ ॥

१४३–लोक में कोई पुरुष (ऐसा) होता है, जो अपने ही लज्जा करके अकुशल (निषिद्ध) कर्म को नहीं करता, जैसे उत्तम घोड़ा कोड़े को नहीं सह सकता, वैसे ही वह निन्दा को नहीं सह सकता ॥ १५ ॥

१४४–अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो
आतापिनो संवेगिनो भवाथ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च
समाधिना धम्म विनिच्छयेन च।
संपन्नविज्जाचरणा पतिस्सता
पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं ॥१६॥

१४५–उदकं हि नयन्ति नेत्तिका
उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका
अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥१७॥

दण्डवग्गो निट्ठितो

१४४–कोड़े पड़े उत्तम घोड़े की भांति उद्योगी, संवेगवान हो, श्रद्धा, आचार वीर्य (=प्रयत्न), समाधि और धर्म के विनिश्चय से युक्त बन विद्या और चरण से समन्वित हो, स्मृतिमान हो इस महान दुःख को पार कर सकोगे ॥ १६ ॥

१४५–नहरवाले पानी को ले जाते हैं, वाण बनाने वाले वाण को ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं और सुव्रती अपना दमन करते हैं ॥ १७ ॥

दण्डवर्ग समाप्त

११. जरावग्गो

१४६—कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ ॥१॥

१४७—पस्स चित्ताकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं ।
आतुरं बहुसङ्कप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति ॥२॥

१४८—परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुरं ।
भिज्जति पूतिसंदेहो मरणन्तं हि जीवितं ॥३॥

१४९—यानि'मानि अपत्थानि अलापूनेव सारदे ।
कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान का रति ॥४॥

१५०—अट्ठीनं नगरं कतं मंसलोहितलेपनं
यत्थ जरा च मच्चू च मानो मक्खो च ओहितो ॥५॥

१५१—जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता
अथो सरीरम्पि जरं उपेति ।
सतं च धम्मो न जरं उपेति
सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति ॥६॥

११. जरावर्ग

१४६–जब (सभी) नित्य जल रहा है तो हँसी कैसी ? आनन्द कैसा ? अन्धकार से घिरे प्रदीप की खोज क्यों न ीं करते ? ॥ १ ॥

१४७–इस चित्रित शरीर को देखो, जो व्रणों से युक्त, फूला, पीड़ित तथा अनेक संकल्पों से युक्त है, जिसकी स्थिति अनित्य है ॥ २ ॥

१४८–यह जीर्ण शार्ण रूप रोगों का जाल सदृश और अत्यंत क्षण भंगुर है । यह गन्दा शरीर विनाश को प्राप्त हो जाता है । जीवन का अन्त मृत्यु होता है ॥ ३ ॥

१४९–शरद-काल की फेंकी गई लौकी की भाँति या कबूतर की-सी सफेद इन हड्डियों को देखकर (तुम्हें) रति कैसी ? ॥ ४ ॥

१५०–यह शरीर हड्डियों से बना नगर जैसा है, जो मांस और रक्त से लेपा गया है; जिसमें जरा, मृत्यु अभिमान और डाह छिपे हुए है ॥ ५ ॥

१५१–राजा के सुचित्रित रथ पुराने हो जाते हैं तथा यह शरीर भी पुराना हो जाता है किन्तु सन्तों का धर्म पुराना नहीं होता । सन्त लोग सन्तों से ऐसा हा कहते हैं ॥ ६ ॥

१५२–अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दो'व जीरति ।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥७॥

१५३–अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥८॥

१५४–गहकारक ! दिट्ठो'सि पुन गेहं न काहसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं ।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥९॥

१५५–अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं ।
जिण्णकोंचा'व झायन्ति खीणमच्छे'व पल्लले ॥१०॥

१५६–अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं ।
सेन्ति चापातिखीणा'व पुराणानि अनुत्थुनं ॥११॥

जरावग्गो निट्ठितो

8410

१५२–यह अल्पश्रुत पुरुष बैल की तरह बढ़ता है। उसके मांस तो बढ़ते हैं, किन्तु उसकी प्रज्ञा नहीं बढ़ती है ॥ ७ ॥

१५३-१५४–बिना रुके अनेक जन्मों तक मैं संसार में दौड़ता रहा। (इस काया रूपी) गृह निर्माण करनेवाले (=तृष्णा) को खोजते पुनः-पुनः दुःख (मय) जन्म में पड़ता रहा। हे गृहकारक! (=तृष्णे!) मैंने तुझे देख लिया, अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सभी कड़ियाँ भग्न हो गईं, गृह का शिखर गिर गया। चित्त संस्कार-रहित हो गया। अर्हत्व (=तृष्णा-क्षय) प्राप्त हो गया ॥ ८-९ ॥

१५५–ब्रह्मचर्य का बिना पालन किये, जवानी में धन को बिना कमाये, (मनुष्य) मछलियों से क्षीण जलाशय में बूढ़े क्रौंच पक्षी की भाँति (वृद्धावस्था में) चिन्ता को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

१५६–ब्रह्मचर्य का विना पालन किये, जवानी में धन को बिना कमाये, (मनुष्य वृद्धावस्था में) धनुष से छोड़े गये बाण की भाँति अपनी पुरानी बातों की ही चर्चा करते हुए चिन्तित होते रहते हैं ॥ ११ ॥

जरावर्ग समाप्त

१२. अत्तवग्गो

१५७—अत्तानं चे पियं जञ्ञा रक्खेय्य नं सुरक्खितं ।
तिण्णमञ्ञतरं यामं पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥१॥

१५८—अत्तान मे व पठमं पतिरूपे निवेसये ।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥२॥

१५९—अत्तानञ्चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति ।
सुदन्तो वत दम्मेथ अत्ता हि किर दुद्दमो ॥३॥

१६०—अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥४॥

१६१—अत्तना'व कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं ।
अभिमन्थति दुम्मेधं वजिरं' व'स्ममयं मणिं ॥५॥

१६२—यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं मालुवासालमिवोततं ।
करोति सो तथत्तानं यथा न इच्छती दिसो ॥६॥

१२. अत्तवर्ग

१५७–अपने को यदि प्रिय समझे, तो अपने को सुरक्षित (संयत) रखे। पण्डित तीनों यामों (पहरों) में से किसी एक पहर में अवश्य जागरण करे ॥ १ ॥

१५८–पहले अपने को ही उचित मार्ग में लगावें, बाद में दूसरे को उपदेश दे। इस तरह पण्डित क्लेश को न प्राप्त होगा ॥ २ ॥

१५९–अपने को वैसे बनावे, जैसा दूसरे को अनुशासन करना है; पहले अपने को भली प्रकार दमन करके दूसरे का दमन करे। वस्तुतः अपने को दमन करना (ही) कठिन है ॥ ३ ॥

१६०–मनुष्य अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कोई उसका स्वामी क्या होगा? अपने ही को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामी (=निर्वाण) को पाता है ॥ ४ ॥

१६१–अपने से जात, अपने से उत्पन्न अपने से किया पाप करने वाले दुर्बुद्धि को पत्थर से उत्पन्न हीरा पत्थर की ही वज्रमणि की (चोट की) भाँति काटता है ॥ ५ ॥

१६२–मालुवा लता से वेस्ठित साखू के पेड़ की भाँति जिसका दुराचार फैला हुआ है; वह अपने को वैसा ही कर लेता है, जैसा कि उसके शत्रु चाहते हैं ॥ ६ ॥

१६३–सुकरानि असाधूनि अत्तानो अहितानि च ।
यं वे हितञ्च साधुञ्च तं वे परमदुक्करं ॥७॥

१६४–यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं ।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं ।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय फल्लति ॥८॥

१६५–अत्तना'व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति ।
अत्तना अकतं पापं अत्तना'व विसुज्झति ।
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं नाञ्ञमञ्ञो विसोधये ॥९॥

१६६–अत्तदत्थं परत्थेन बहुना'पि न हापये ।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया ॥१०॥

अत्तवग्गो निट्ठितो

१६३–बुरी बातों का करना बड़ा आसन है जिनसे अपना ही अहित होता है, किन्तु उसे करना बड़ा ही दुष्कर होता है जो अच्छा और हितकर है ॥ ७ ॥

१६४–जो धर्मात्मा श्रेष्ठ अर्हतों के शासन की—अपनी पापमयी मिथ्या धारणा के कारण निन्दा करता है, वह अपनी ही बर्बादा करता है, जैसे बाँस का फूल बाँस को ही नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

१६५–अपना किया पाप अपने को मलिन करता है। अपने पाप न करें तो अपने ही शुद्ध रहता है। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही से होती है। दूसरा आदमी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

१६६–पराये के बहुत हित के लिए भी अपने हित की हानि न करे अपने अर्थ की बात को समझ कर अपने ही अर्थ के साधन में लग जाय ॥ १० ॥

अत्तवर्ग समाप्त

१३. लोकवग्गो

१६७–हीनं धम्मं न सेवेय्य पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य न सिया लोकवड्ढनो ॥१॥

१६८–उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥२॥

१६९–धम्मं चरे सुचरितं न नं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥३॥

१७०–यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥४॥

१७१–एथ पस्सथिमं लोकं चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति नत्थि सङ्गो विजानतं ॥५॥

१७२–यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥६॥

१३. लोकवर्ग

१६७—नीच धर्म का सेवन न करे, प्रमाद से न रहे, मिथ्या धारण में न पड़े, आवागमन का चक्र न बढ़ावे ॥ १ ॥

१६८—पाप न करे, प्रमाद न करे, सुचरित धर्म का आचरण करे। धर्मचारी पुरुष इस लोक और परलोक दोनों जगह सुखपूर्वक रहता हैं ॥ २ ॥

१६९—सुचरित धर्म का आचरण करे, दुराचरण न करे। धर्मचारी इस लोक और परलोक दोनों जगह सुखपूर्वक रहता है ॥ ३ ॥

१७०—जो इस लोक को बुलबुले की तरह और मरीचिका की तरह देखता है, लोक को वैसे ही देखनेवाले को यमराज नहीं देखता ॥ ४ ॥

१७१—आओ, चित्रित राज-रथ के समान इस लोक को देखो, जिसमें मूर्ख फंस जाते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष को आसक्ति नही होती ॥ ५ ॥

१७२—जो पहले प्रमाद करके पीछे प्रमाद नहीं करता, वह इस लोक को मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति प्रकाशित करता है ॥ ७ ॥

१७३–यस्स पापं कतं कम्मं कुसलेन पिथीयति ।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥७॥

१७४–अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति ।
सकुन्तो जालमुत्तो'व अप्पो स्सग्गाय गच्छति ॥८॥

१७५–हंसादिच्चपथे यन्ति आकासे यन्ति इद्धिया ।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहिणिं ॥९॥

१७६–एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो ।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ॥१०॥

१७७–न (वे) कदरिया देवलोकं वजन्ति
बाला ह वे नप्पसंसन्ति दानं ।
धीरो च दानं अनुमोदमानो
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥११॥

१७८–पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा ।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं ॥१२॥

लोकवग्गो निट्ठितो

१७३–जिसका किया पाप-कर्म उसके पुण्य से ढँक जाता है, वह इस लोक को मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति प्रकाशित करता है ॥ ७ ॥

१७४–यह लोक अन्धे के सदृश है, यहाँ देखनेवाले थोड़े ही हैं जाल से मुक्त पक्षी की भाँति विरले ही स्वर्ग को जाते हैं ॥ ८ ॥

१८५–हंस सूर्य पथ (=आकाश) में जाते है, ऋद्धि से योगी भी आकाश में गमन करते हैं । पंड़ित पुरुष सेनासहित मार को पराजित कर लोक से (निर्वाण) को चले जाते हैं ॥ ९ ॥

१७६–एक धर्म (सत्य) का अतिक्रमण कर जो झूठ बोलता है, परलोक की चिन्ता से रहित उस पुरुष के लिए कोई पाप ऐसा नहीं रह जाता जो वह न कर सके ॥ १० ॥

१७७–कंजूस देवलोक नहीं जाते, मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते; पंडित दान का अनुमोदन कर उसी (कर्म) से परलोक में सुखी होता है ॥ ११ ॥

१७८–सारी पृथ्वी का अकेला राजा होने से या स्वर्ग के गमन से अथवा सारे लोक का स्वामी हो जाने से भी स्रोतापत्ति-फल श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥

लोकवर्ग समाप्त

१४. बुद्धवग्गो

१७९–यस्स जितं नावजीयति जितमस्स नो याति कोचि लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ? ॥१॥

१८०–यस्स जालिनी विसत्तिका तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ? ॥२॥

१८१–ये झानपसुता धीरा नेक्खम्मूपसमे रता।
देवा'पि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सतीमतं ॥३॥

१८२–किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानं उप्पादो ॥४॥

१८३–सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥५॥

१८४–खन्ती परमं तपो तितिक्खा
निब्बाणं परमं वदन्ति बुद्धा।
न हि पब्बजितो परूपघाती
समणो होति परं विहेठयन्तो ॥६॥

१४. बुद्धवर्ग

१७६–जिसका जीता बेजीता नहीं किया जा सकता, जिसके जीते (राग-द्वेष, मोह फिर) नहीं लौटते, उस अनन्तगोचर (=अनन्त को देखनेवाले) अ-पद बुद्ध को किस पथ से प्राप्त करोगे ? ॥ १ ॥

१८०–जिसकी जाल फैलानेवाली विष रूपी तृष्णा कहीं भी ले जाने योग्य नहीं रही उस अनन्तगोचर अ-पद बुद्ध को किस पथ से प्राप्त करोगे ॥ २ ॥

१८१–जो धीर ध्यान में लगे परम शांत निर्वाण में रत हैं, उन स्मृतिमान बुद्धों को देवता भी चाहते हैं ॥ ३ ॥

१८२–मनुष्य का जन्म पाना कठिन है, मनुष्य का जीवित रहना कठिन है, सद्धर्म का श्रवण करना कठिन है और बुद्धों का उत्पन्न होना कठिन है ॥ ४ ॥

१८३–सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना–यह बुद्धों की शिक्षा है ॥ ५ ॥

१८४–सहन-शीलता और क्षमा-शीलता परम तप है, बुद्ध लोग निर्वाण को परम तप (=उत्तम) बताते है। दूसरों का घात करने वाला और सतानेवाला प्रव्रजित श्रमण नहीं होता ॥ ६ ॥

१८५–अनूपवादो अनूपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं ॥७॥

१८६–न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो ॥८॥

१८७–अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति सम्मासम्बुद्धसावको ॥९॥

१८८–बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥१०॥

१८९–नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥११॥

१९०–यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥१२॥

१९१–दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्च'ट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥१३॥

१९२–एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥१४॥

१९३–दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायती धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥१५॥

१८५–निन्दा न करना, घात न करना, प्रातिमोक्ष में संयम रखना, भोजन में मात्रा जानना, एकांतवास, चित्त को योग में लगाना—यह बुद्धों की शिक्षा है ॥ ७ ॥

१८६-१८७–यदि कर्षापणों (रुपयों) की वर्षा हो तो भी मनुष्य की कामों (=भोगों) से तृप्ति नहीं हो सकती। सभी काम (=भोग) अल्पस्वाद और दुःखद हैं, ऐसा जानकर पंडित देवलोक के भोगों में रति नहीं करता, और सम्यक् सम्बुद्ध का श्रावक तृष्णा को नाश करने में लगता है ॥ ८-९ ॥

१८८-१८९–मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, आराम (=उद्यान), वृक्ष चैत्य (=चौरा) आदि को देवता मान उनकी शरण में जाते हैं, किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं; क्योंकि इस शरण में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता ॥ १०-११ ॥

१९०-१९२–जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण गया है, जिसने चार आर्य-सत्यों-दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख से मुक्ति और मुक्तगामी आर्य अष्टांगिक मार्ग को सम्यक् प्रज्ञा से देख लिया है, यही मंगलदायक शरण है। यही उत्तम शरण है। इसी शरण को प्राप्त कर (व्यक्ति) सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥ १२-१४ ॥

१९३–उत्तम पुरुष दुर्लभ है, वह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता, वह धीर (पुरुष) जहाँ उत्पन्न होता है, उस कुल में सुख की वृद्धि होती है ॥ १५ ॥

१९४–सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना ।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो ॥१६॥

१९५–पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके ।
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे ॥१७॥

१९६–ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये ।
न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तमपि केन चि ॥१८॥

बुद्धवग्गो निट्ठितो

१९४–सुखदायक है बुद्धों का जन्म, सुखदायक है सद्धर्म का उपदेश, संघ में एकता सुखदायक है और सुखदायक है एकतायुक्त हो तप करना ॥ १६ ॥

१९५-१९६–पूजनीय बुद्धों, अथवा (उनके) श्रावकों की—जो अतिक्रमण कर गये हैं, जो शोक-भय को पार कर गये हैं—पूजा के, (या) उन ऐसे मुक्त और निर्भय (पुरुषों) की पूजा के, पुण्य का परिणाम "इतना है"—यह किसी से भी नहीं कहा जा सकता है ॥ १७-१८ ॥

बुद्धवर्ग समाप्त

१५. सुखवग्गो

१९७–सुसुखं वत ! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो ।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ।।१।।

१९८–सुसुखं वत ! जीवाम आतुरेसु अनातुरा ।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ।।२।।

१९९–सुसुखं वत ! जीवाम अस्सुक्केसु अनुस्सुका ।
उस्सुक्केसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका ।।३।।

२००–सुसुखं वत ! जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं ।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ।।४।।

२०१–जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो ।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं ।।५।।

२०२–नत्थि राग समो अग्गि नत्थि दोससमो कलि ।
नत्थि खन्धा समा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ।।६।।

१५. सुखवर्ग

१९७—वैरियों में अवैरी हो, अहो ! हम सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं, वैरी मनुष्यों के बीच अवैरी होकर हम विहार करते हैं ॥ १ ॥

१९८—पीड़ित मनुष्यों में पीड़ारहित हो, अहो ! हम सुखपूर्वक बिता रहे हैं, पीड़ित मनुष्यों के बीच पीड़ा-रहित होकर हम विहार करते हैं ॥ २ ॥

१९९—आसक्त मनुष्यों में अनासक्त हो, अहो ! हम सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं, आसक्त मनुष्यों के बीच अनासक्त होकर हम विहार करते हैं ॥ ३ ॥

२००—जिन हम लोगों के पास कुछ नहीं, अहो ! वह हम कितना सुख से जीवन बिता रहे हैं। हम आभास्वर के देवताओं की भाँति प्रीति-भक्ष (= प्रीति ही भोजन है जिनका) होंगे ॥ ४ ॥

२०१—विजय वैर को उत्पन्न करती है, पराजित (पुरुष) दुःख का नींद सोता है; (किन्तु राग आदि दोष जिसके) शांत हैं, वह पुरुष जय और पराजय को छोड़ सुख का नींद सोता है ॥ ५ ॥

२०२—राग के समान अग्नि नहीं, द्वेष के समान मल नहीं, (पंचस्कन्ध) के समान दुःख नहीं, निर्वाण से बढ़कर सुख नहीं ॥ ६ ॥

२०३–जिघच्छापरमा रोगा सङ्खारा परमा दुखा ।
एवं ञत्वा यथाभूतं निब्बाणंपरमं सुखं ॥७॥

२०४–आरोग्यपरमा लाभा सन्तुटिठ्परमं धनं ।
विस्सासापरमा ञाती निब्बणं परमं सुखं ॥८॥

२०५–पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च ।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥९॥

२०६–साहु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो ।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

२०७–बालसंगतचारी हि दीघमद्धान सोचति ।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तोनेव सब्बदा ।
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं'व समागमो ॥११॥

२०८–तस्मा हि धीरञ्च पञ्ञञ्च बहुस्सुतञ्च
धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं ।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं
भजेथ नक्खत्तपथं'व चन्दिमा ॥१२॥

खवग्गो निट्ठतो

२०३–भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार सबसे बड़ा दुःख है, इसे यथार्थ (रूप से) जानकर निर्वाण सबसे बड़ा सुख है ॥ ७ ॥

२०४–निरोग होना परम लाभ है, संतोष परम धन है, विश्वास सबसे बड़ा बन्धु है, निर्वाण सबसे बड़ा सुख है ॥ ८ ॥

२०५–एकान्त-चिन्तन के रस तथा उपशम (=शान्ति) के रस को पीकर (पुरुष), निडर होता है और धर्म का प्रेम-रस पान कर निष्पाप होता है ॥ ९ ॥

२०६–आर्यों का दर्शन सुन्दर है, उनके साथ निवास सदा सुखदायक होता है; मूढ़ों के दर्शन न होने से मनुष्य सदा सुखी रहता है ॥ १० ॥

२०७–मूढ़ों की संगति में रहनेवाला दीर्घकाल तक शोक करता है, मूढ़ों का सहवास शत्रु की तरह सदा दुःखदायक होता है। बन्धुओं के समागम की भाँति धीरों का सहवास सुखद होता है ॥ ११ ॥

२०८–इसलिए वैसे धीर, ज्ञानी, बहुश्रुत शीलवान, व्रत सम्पन्न, आर्य तथा बुद्धिमान पुरुष का अनुगमन उसी भाँति करे, जैसे चन्द्रमा नक्षत्र-पथ का ॥ १२ ॥

सुखवर्ग समाप्त

---

१. रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—यह पंच स्कन्ध हैं।

१६. पियवग्गो

२०९–अयोगे युञ्जमत्तानं योगस्मिञ्च अयोजयं ।
अत्थं हित्वा पियग्गाही पिहेत'त्तानुयोगिनं ॥१॥

२१०–मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं ।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानञ्च दस्सनं ॥२॥

२११–तस्मा पियं न कयिराथ पियापायो हि पापको ।
गन्था तेसं न विज्जन्ति येसं नत्थि पियाप्पियं ॥३॥

२१२–पियतो जायती सोको पियतो जायती भयं ।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥४॥

२१३–पेमतो जायती सोको पेमतो जायती भयं ।
पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥५॥

२१४–रतिया जायती सोको रतिया जायती भयं ।
रतिया विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥६॥

१६. पियवग्ग

२०९–बुरे कर्म में लगा हुआ, अच्छे कर्म में न लगनेवाला तथा परमार्थ को छोड़ संसार के आकर्षण में लगनेवाला पुरुष उस पुरुष की स्पृहा करे, जो आत्म-उन्नति में लग्न है ॥ १ ॥

२१०–प्रियों का संग न करे और न कभी अप्रियों का। प्रियों का न देखना दुःखद है और अप्रियों का देखना ॥ २ ॥

२११–इसलिए प्रिय न बनावे। प्रिय से बियोग बुरा होता है। उन्हें कोई बन्धन नहीं है जिन्हें न तो प्रिय है, न अप्रिय ॥ ३ ॥

२१२–प्रिय से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय से भय उत्पन्न होता है; जो प्रिय से मुक्त है उसे शोक नहीं, फिर भय कहाँ से होगा? ॥ ४ ॥

२१३–प्रेम से शोक उत्पन्त होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है, प्रेम से मुक्त को शोक नहीं, फिर भय कहाँ से होगा? ॥ ५ ॥

२१४–रति (=राग) से शोक उत्पन्न होता है, रति से भय उत्पन्न होता है, रति से मुक्त को शोक नहीं, फिर भय कहाँ से होगा? ॥ ६ ॥

२१५–कामतो जायती सोको कामतो जायती भयं ।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥७॥

२१६–तण्हाय जायती सोको तण्हाय जायती भयं ।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥८॥

२१७–सीलदस्सन सम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चवादिनं ।
अत्तनो कम्म कुब्बानं तं जनो कुरुते पियं ॥९॥

२१८–छन्दजातो अनक्खाते मनसा च फुटो सिया ।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो उद्धंसोतो'ति वुच्चति ॥१०॥

२१९–चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं ।
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥११॥

२२०–तथेव कतपुञ्ञम्पि अस्मा लोका परं गतं ।
पुञ्ञानि पतिगण्हन्ति पियं ञातिं'व आगतं ॥१२॥

पियवग्गो निट्ठितो

२१५–काम से शोक उत्पन्न होता, काम से भय। (भोग) काम से मुक्त को शोक नहीं, फिर भय कहाँ से उत्पन्न होगा ? ॥ ७ ॥

२१६–तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तृष्णा से भय उत्पन्न होता है, तृष्णा से मुक्त को शोक नहीं, फिर भय कहाँ से होगा ? ॥ ८ ॥

२१७–जो शील और दर्शन (=सम्यक् दृष्टि) से सम्पन्न, धर्म में स्थित सत्यवादी और अपने कामों को करने वाला है, उस (पुरुष) को लोग प्रेम करते हैं ॥ ९ ॥

२१८–जो निर्वाण (=अकथ्य) का अभिलाषी है; उसमें जिसका मन लगा है, कामों में जिसका चित्त बद्ध नहीं, वह ऊर्ध्व-स्रोत कहा जाता है ॥ १० ॥

२१९–बहुत दिनों तक विदेश में रहने के बाद दूर से सकुशल घर लौटे पुरुष को ज्ञाति-भाई, मित्र और हितैषी स्वागत करते हैं ॥ ११ ॥

२२०–वैसे ही इस लोक से परलोक गये पुण्यात्मा पुरुष को उसके पुण्य अपने सम्बन्धी के समान स्वागत करते हैं ॥ १२ ॥

प्रियवर्ग समाप्त

१७. कोधवग्गो

२२१–कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं
सञ्ञोजनं सब्बमतिक्कमेय्य ।
तं नाम-रूपस्मिं असज्जमानं
अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥१॥

२२२–यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं'व धारये ।
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥२॥

२२३–अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥३॥

२२४–सच्चं भणे न कुज्झेय्य दज्जा'प्पस्मिम्पि याचितो ।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥४॥

२२५–अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता ।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥५॥

२२६–सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं ।
निब्बाणं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥६॥

१७. क्रोधवर्ग

२२१–क्रोध को छोड़े, अभिमान का त्याग करे, सारे संयोजनों (=बन्धनों) से पार हो जाये, ऐसे नाम रूप में आसक्त न होने वाले तथा परिग्रह रहित को दुःख संताप नहीं होते ॥ १ ॥

२२२–जो चढ़े क्रोध को रोक ले जैसे गलत दिशा को जाते रथ को कोई दक्षता से रोक लेता है। उसी को मैं सारथी कहता हूँ, दूसरे तो केवल लगाम पकड़ने वाले हैं ॥ २ ॥

२२३–अक्रोध से क्रोध को जीते, असाधु को साधुता (=भलाई) से जीते, कंजूस को दान से जीते, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीते ॥३॥

२२४–सच बोले, क्रोध न करे, मांगने पर थोड़ा भी दे, इन तीनों बातों के करने से (पुरुष) देवताओं के पास जाता है ॥ ४ ॥

२२५–जो पुरुष हिंसा से रहित है, जो सदा अपने शरीर में संयत है, वे उस अच्युत पद को प्राप्त करते हैं जिसे प्राप्त कर वे शोक नहीं करते ॥ ५ ॥

२२६–सदा जागरणशील हो, दिन-रात योगाभ्यास में लगे रहने वाले तथा जो निर्वाण प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील है, ऐसे (मनुष्यों) के आश्रव नष्ट हो जात हैं ॥६॥

२२७–पोराणमेतं अतुल ! नेतं अज्जतनामिव ।
निन्दन्ति तुण्हीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं ।
मितभाणिनम्पि निन्दन्ति नत्थि लोके अनिन्दितो ॥७॥

२२८–न चाहु न च भविस्सति न चेतरहि विज्जति ।
एकन्तं निन्दितो पोसो एकन्तं वा पसंसितो ॥८॥

२२९–यञ्चे विञ्ञू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे ।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं पञ्ञासीलसमाहितं ॥९॥

२३०–नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति ।
देवापि तं पसंसन्ति ब्रह्मुणाऽपि पसंसितो ॥१०॥

२३१–कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया ।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥११॥

२३२–वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया ।
वचीदुच्चरितं हित्वा वाचाय सुचरितं चरे ॥१३॥

२३३–मनोपकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया ।
मनोदुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥

२३४–कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता ।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता ॥१४॥

कोधवग्गो निट्ठितो

२२७-२२८—हे अतुल ; यह पुरानी बात है, आज की नहीं—लोग चुप बैठे हुए की निन्दा करते हैं और बहुत बोलनेवाले की भी, मित-भाषी की भी निन्दा करते हैं; लोक में अ-निन्दित कोई नहीं है। ऐसा आदमी जो कि या तो बिलकुल ही निन्दित या बिलकुल ही प्रशंसित हो, ऐसा पुरुष न था, न होगा और न आजकल है ॥ ७-८ ॥

२२९-२३०—विज्ञ लोग जानकर जिस निर्दोष आचरणवाले मेधावी, प्रज्ञा और शील से युक्त पुरुष की दिन-प्रतिदिन प्रशंसा करते हैं, उसकी जाम्बूनद-सुवर्ण की अशर्फी के समान कौन निन्दा कर सकता है ? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं और ब्रह्मा द्वारा भी वह प्रशंसित होता है ॥ ९-१० ॥

२३१—कायिक दुराचरण से बचे, काय से संयत रहे। कायिक दुराचार को छोड़, कायिक सदाचार का आचरण करे ॥ ११ ॥

२३२—वाणी के दुराचार से बचे, वाणी से संयत रहे, वाणी के दुराचार को छोड़, वाणी के सदाचार का आचरण करे ॥ १२ ॥

२३३—मानसिक दुराचार से बचे, मन से संयत रहे, मानसिक दुराचार को छोड़, मानसिक सदाचार का आचरण करे ॥ १३ ॥

२३४—जो धीर पुरुष काय से संयत, वाणी से संयत और मन से संयत रहते हैं, वे ही पूर्ण रूप से संयत हैं ॥ १४ ॥

क्रोधवर्ग समाप्त

१८. मलवग्गो

२३५–पण्डुपलासो'व दानि'सि
यमपुरिसापि च तं उपट्ठिता ।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि
पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ।।१।।

२३६–सो करोहि दीपमत्तनो
खिप्पं वायम पण्डितो भव ।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो
दिब्बं अरियभूमिमेहिसि ।।२।।

२३७–उपनीतवयो च दानिसि
सम्पयातो'सि यमस्स सन्तिकं ।
वासोपि च ते नत्थि अन्तरा
पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ।।३।।

२३८–सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव ।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो न पुनजातिजरं उपेहिसि ।।४।।

१८. मलवर्ग

२३५–तू इस समय पीले पत्ते के समान है, यमदूत तेरे पास आ खड़े हैं, तू प्रयाण के लिये तैयार है और तेरे पास पाथेय कुछ नहीं है ॥ १ ॥

२३६–इसलिए तू अपने लिए द्वीप (=रक्षा-स्थान) बना, उद्योग कर, पंडित बन, मल धो डाल, दोष रहित बन, आर्यों के दिव्यपद को पायेगा ॥ २ ॥

२३७–तेरी आयु समाप्त हो गयी, यम के पास पहुँच चुका है, तेरा निवास स्थान भी नहीं है, (यात्रा के) मध्य के लिए तेरे पास पाथेय भी नहीं है ॥३॥

२३८–इसलिए तू अपने लिए द्वीप बना, उद्योग कर, पंडित बन, मल धो डाल, दोष रहित बन, आर्यों के दिव्य पद को पायेगा ॥४॥

२३९–अनुपुब्बेन मेधावी थोकथोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो ॥५॥

२४०–अयसा'व मलं समुट्ठितं
तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं
सक कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं ॥६॥

२४१–असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं ॥७॥

२४२–मलित्थिया दुच्चरितं मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च ॥८॥

२४३–ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो ॥९॥

२४४–सुजीवं अहिरीकेन काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं ॥१०॥

२४५–हिरीमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेनप्पगब्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ॥११॥

२४६–यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥१२॥

२४७–सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो ॥१३॥

२३९—सोनार जैसे चाँदी के मैल को क्रमशः क्षण-क्षण थोड़ा-थोड़ा जलाकर साफ करता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष अपने मल को क्रमशः दूर करे ॥५॥

२४०—जैसे लोहे का मुरचा उत्पन्न होकर उसी को खाता है वैसे ही सदाचार का उल्लंघन करने वाले मनुष्य के अपने ही कर्म उसे दुर्गति को प्राप्त कराते हैं ॥६॥

२४१—पाठ न करना मन्त्रों का मैल है, झाड़-बहार न करना घर का मैल है, आलस्य सौंदर्य का मैल है, असावधानी पहरेदार का मैल है ॥७॥

२४२—स्त्री का मैल दुराचार है, दानी का मैल कंजूसी है। पाप इस लोक और परलोक दोनों में मैल है ॥८॥

२४३—उससे भी बढ़कर अविद्या परम मल है। भिक्षुओं! इस मैल को छोड़ निर्मल बनो ॥९॥

२४४—पाप के प्रति निर्लज्ज, कौवे जैसा (=स्वार्थ में) शूर, दूसरे का अहित करनेवाले, पतित, बकवादी, पापी मनुष्य का जीवन सुखपूर्वक बीतता (देखा जाता) है ॥१०॥

२४५—परन्तु पाप के प्रति लज्जावान, नित्य ही पवित्रता का ख्याल रखनेवाले, सचेत, मितभाषी, शुद्ध जीविकावाले और ज्ञानी का जीवन कठिनाई से बीतता (देखा जाता) है ॥११॥

२४६-२४७—जो जीवहिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, पर-स्त्रीगमन करता है, शराब-दारू पीता है, वह इस संसार में अपनी ही जड़ खोदता है ॥१२-१३॥

२४८–एवं भो पुरिस ! जानाहि पापधम्मा असञ्ञता ।
मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥१४॥

२४९–ददन्ति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो ।
तत्थ यो मंकु भवति परेसं पानभोजने ।
न सो दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१५॥

२५०–यस्स चे' तं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं ।
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१६॥

२५१–नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो ।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तन्हासमा नदी ॥१७॥

२५२–सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं ।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं ।
अत्तनो पन छादेति कलिं'व कितवा सठो ॥ ॥१८॥

२५३–परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो ।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा सो आसवक्खया ॥१९॥

२५४–आकासे पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे ।
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता ॥२०॥

२५५–आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे ।
संखारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं ॥२१॥

मलवग्गो निट्ठितो

२४८–हे पुरुष ! संयम रहित पाप कर्म ऐसे ही होते हैं, इसे जानो। तुम्हें लोभ और अधर्म चिरकाल तक दुःख में न डाले रहें ॥१४॥

२४९–लोग अपनी श्रद्धा भक्ति के अनुसार दान देते हैं। दूसरों के खाने-पीने को देख जो सह नहीं सकता, वह दिन या रात कभी भी एकाग्रता को नहीं प्राप्त करता ॥१५॥

२५०–लेकिन जिसकी ऐसी मनोवृत्ति उच्छिन्न हो गयी है, समूल नष्ट हो गयी है, वही रात-दिन (सर्वदा) एकाग्रता को प्राप्त करता है ॥१६॥

२५१–राग के समान आग नहीं, द्वेष के समान ग्रह (भूत) नहीं, मोह के समान जाल नहीं, तृष्णा के समान नदी नहीं है ॥१७॥

२५२–दूसरे का दोष देखना आसान है, किंतु जो अपना दोष नहीं देखता है, वह (पुरुष) दूसरों के ही दोषों को भूसे की भाँति उड़ाता फिरता है, किंतु अपने (दोषों) को वैसे ही ढाँकता है, जैसे बेईमान जुवारी पाँसे को ॥१८॥

२५३–दूसरों के दोष को देखनेवाले तथा सदा दूसरों की टीका-टिप्पणी करनेवाले के आश्रव (= चित्त-मल) बढ़ते हैं। ऐसा आदमी आश्रवों के क्षय से दूर है ॥१९॥

२५४–आकाश में पद (चिन्ह) नहीं, बाहर में श्रमण नहीं, लोग प्रपंच में लगे रहते हैं, किन्तु तथागत प्रपंच-रहित हैं ॥२०॥

२५५–आकाश में पद (चिन्ह) नहीं, बाहर (आर्य अष्टांगिक मार्ग से) श्रमण नहीं, संस्कार शाश्वत नहीं और बुद्धों में चंचलता नहीं ॥२१॥

मलवर्ग समाप्त

१९. धम्मट्ठवग्गो

२५६–न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा नये ।
यो च अत्थं अनत्थञ्च उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥१॥

२५७–असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे ।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो'ति पवुच्चति ॥२॥

२५८–न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति ।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो'ति पवुच्चति ॥३॥

२५९–न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति ।
यो च अप्पम्पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति ।
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति ॥४॥

२६०–न तेन थेरो होति येन'स्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो'ति वुच्चति ॥५॥

२६१–यम्हि सच्चञ्च धम्मो च अहिंसा सञ्ञमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो थेरो'ति पवुच्चति ॥६॥

२६२–न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा ।
साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो ॥७॥

१६. धम्मट्ठवग्ग

२५६-२५७–बिना विचारे यदि कोई न्याय करता है, तो वह न्यायाधीश नहीं। जो पंडित सच्चे और झूठे दोनों का निर्णय कर विचारपूर्वक धर्म से पक्षपात रहित होकर न्याय करता है, वही धर्म की रक्षा करनेवाला सच्चा न्यायाधीश कहा जाता है ॥१ २॥

२५८–बहुत बोलने से (कोई) पंडित नहीं होता, प्रत्युत जो क्षेमवान्, अ-वैरी और निर्भय होता है, वही पंडित कहा जाता है ॥३॥

२५६–बहुत बोलने से (कोई) धर्मधर नहीं होता, प्रत्युत जो थोड़ा भी सुनकर धर्म का (नाम) काय से साक्षात् करता है, और धर्म में प्रमाद नहीं करता, वही धर्मधर है ॥४॥

२६०–सिर के (बाल) पकने से (कोई) स्थविर नहीं होता, केवल उसकी आयु परिपक्व हो गयी है, वह तो व्यर्थ में ही वृद्ध हुआ कहा जाता है ॥५॥

२६१–जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वही विगतमल धीर स्थविर कहा जाता है ॥६॥

२६२–ईर्ष्यालु, मत्सरी और शठ पुरुष वक्ता या रूपवान होने मात्र से साधु-रूप नहीं होता ॥७॥

२६३—यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं ।
स वन्तदोसो मेधावी साधुरूपो'ति वुच्चति ॥८॥

२६४—न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति? ॥९॥

२६५—योच समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं समणो,ति पवुच्चति ॥१०॥

२६६—न तेन भिक्खू [सो] होति यावता भिक्खते परे ।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खू होति न तावता ॥११॥

२६७—यो'ध पुञ्ञञ्च पापञ्च वाहित्वा ब्रह्मचरिय वा ।
सङ्खाय लोके चरति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ॥१२॥

२६८—न मोनेन मुनी होति मूल्हरूपो अविद्दसु ।
यो च तुलं'व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो ॥१३॥

२६९—पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनि ।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥१४॥

२७०—न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो' ति पवुचति ॥१५॥

२७१—न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पुन ।
अथवा समाधिलाभेन विविच्चसयनेन वा ॥१६॥

२७२—फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं ।
भिक्खू ! विस्सासमापादि अप्पतो आसवक्खयं ॥१७॥

धम्मट्ठवग्गो निट्ठितो

२६३–जिसका यह (दोष) बिलकुल जड़ से उच्छिन्न हो गया है, समूल नष्ट हो गया है, वही द्वेष रहित मेधावी साधु-रूप कहा जाता है ॥८॥

२६४–जो व्रतरहित, मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं हो जाता, इच्छा-लोभ से भरा पुरुष क्या श्रमण होगा ? ॥९॥

२६५–जो छोटे-बड़े पापों को सर्वथा शमन करता है, पाप को शमित होने के कारण वह श्रमण कहा जाता है ॥१०॥

२६६–दूसरों के पास जाकर भिक्षा माँगने से कोई भिक्षु नहीं होता है और न तो भिक्षु होता है विश्व-धर्म (कर्मों) को ग्रहण करने से ॥११॥

२६७–जो यहाँ पुण्य और पाप को छोड़ ब्रह्मचारी बन, ज्ञान के लोक में विचरता है, वह भिक्षु कहा जाता है -१२॥

२६८-२६९–कोई अविद्वान् मूढ़ मौन धारण करने मात्र से मुनि नहीं होता। जो पण्डित—मानो श्रेष्ठ तुला ग्रहण करके दोनों लोकों का मान करता है (=तौलता है) और पापों को छोड़ देता है, वह इस कारण मुनि है और मुनि कहा जाता है ॥१३-१४॥

२७०–प्राणियों की हिंसा करने से (कोई) आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों की हिंसा न करने से आर्य कहा जाता है ॥१५॥

२७१-२७२–न शील और व्रत के आचरण मात्र से, न बहुश्रुत होने से, न समाधि-लाभ से या न एकान्त में शयन करने से, अथवा न पृथक् जनों द्वारा अप्राप्त नैष्क्रम्य (=अनागामी) के सुख का अनुभव कर रहा हूँ—सोचने मात्र से दुःख क्षय होता है। भिक्षुओ ! तब तक विश्वास न करो जब तक आश्रवों का क्षय न हो जाय ॥१६-१७॥

धम्मट्ठवर्ग समाप्त

२०. मग्गवग्गो

२७३–मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥१॥

२७४–एसो'व मग्गो नत्थ' ञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥२॥

२७५–एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वे मया मग्गो अञ्ञाय सल्लसन्थनं ॥३॥

२७६–तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना ॥४॥

२७७–सब्बे संखारा अनिच्चा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥५॥

२७८–सब्बे संखारा दुक्खा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥६॥

२०. मग्गवग्ग

२७३—मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है, सत्यों में चार पद (=चार आर्य सत्य) श्रेष्ठ है, धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है, द्विपदों (=मनुष्य) में चक्षुष्मान् (=ज्ञान-नेत्रधारी बुद्ध) श्रेष्ठ हैं ॥१॥

२७४—दर्शन (=ज्ञान) की विशुद्धि के लिए यही मार्ग है, दूसरा नहीं; भिक्षओ ! तुम इसी पर चलो, यही मार को मूर्च्छित करने वाला है ॥२॥

२७५—इस मार्ग पर चलने से तुम दुःखों का अन्त कर दोगे। शल्य-समान दुःख का निवारण-स्वरूप निर्वाण को जानकर मैंने इसका उपदेश किया है ॥३॥

२७६—कार्य तो तुम्हीं को करना है, तथागतों (=बुद्धों) का कार्य उपदेश (बतला) देना है। तदनुसार (ध्यानाभ्यासी) मार्ग पर आरूढ़ हो ध्यान में रत हो मार के वन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥४॥

२७७—'सभी संस्कार अनित्य हैं' ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद (=विराग) को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि (=निर्वाण) का मार्ग है ॥५॥

२७८—'सभी संस्कार दुःख हैं'—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद (=विराग) को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि (निर्वाण) का मार्ग है ॥६॥

२७९–सब्बे धम्मा अनत्ता'ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥७॥

२८०–उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो
युवा बली आलसियं उपेतो ।
संसन्नसंकप्पमनो कुसीतो पञ्ञाय
मग्गं अलसो न विन्दति ॥८॥

२८१–वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न कयिरा ।
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गं इसिप्पवेदितं ॥९॥

२८२–योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसङ्खयो ।
एतं द्वेधापथं ञत्वा भवाय विभवाय च ।
तथ'त्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति ॥१०॥

२८३–वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं ।
छेत्त्वा वनञ्च वनथञ्च निब्बना होथ भिक्खवो ॥११॥

२८४–यावं हि वनथो न छिज्जति
अनुमत्तो'पि नरस्स नारिसु ।
पटिबद्धमनो' व ताव सो
वच्छो खीरपको'व मातरि ॥१२॥

२८५–उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं'व पाणिना ।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बाणं सुगतेन देसितं ॥१३॥

२७६–सभी धर्म (=पञ्चस्कन्ध) अनात्म हैं—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है ।७।।

२८०–जो उद्योग करने के समय उद्योग न करने वाला, युवा और बली होकर भी आलस्य से युक्त होता है, जिसने उच्च आकाक्षांओं को छोड़ दिया है और जो कुसीदी (=दीर्घसूत्री) है, वह आलसी प्रज्ञा के मार्ग को नहीं प्राप्त करता है ।।८।।

२८१–वाणी का संयम करे, मन का संयम करे और शरीर से कोई पाप न करे। इन तीनों कर्म पथों को शुद्ध करे। (ऋषि=बुद्ध) के बताये मार्ग का अनुसरण करे ।।९।।

२८२–योगाभ्यास से प्रज्ञा उत्पन्न होती है और उसके अभाव से उसका क्षय होता है। उन्नति और विनाश के इन दो भिन्न मार्गों को जान अपने को ऐसा लगावे, जिससे प्रज्ञा की वृद्धि हो ।।१०।।

२८३–भिक्षुओ ! वन को काटो, वृक्ष को मत, वन से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ को काटकर वन रहित हो जाओ ।।११।।

२८४–जब तक पुरुष में अणुमात्र भी स्त्रियों की कामना अखण्डित रहती है, तब तक दूध पीने वाला बछड़ा जैसा माता में आबद्ध रहता है, वैसे ही पुरुष बंधा रहता है ।।१२।।

२८५–हाथ से शरद् (ऋतु) के कुमुद की तोड़ने की भांति, आत्म स्नेह को उच्छिन्न कर डालो, सुगत (=बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट (इस) शान्ति मार्ग निर्वाण का आश्रय लो ।।१३।।

२८६–इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हिसु ।
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति ।।१४।।

२८७–तं पुत्तपसुसम्मत्तं व्यासत्तमनसं नरं ।
सुत्तं गामं महोघो'व मच्चु आदाय गच्छति ।।१५।।

२८८–न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नपि बन्धवा ।
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातिसु ताणता ।।१६।।

२८९–एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो ।
निब्बाणं-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये ।।१७।।

मग्गवग्गो निट्ठितो

२८६–यहाँ वर्षा में बसूँग, यहाँ हेमन्त और ग्रीष्म में—मूर्ख इस प्रकार सोचता है किन्तु (अपने जीवन के) विघ्नों को नहीं देखता है ॥१४॥

२८७–सोये गाँव को जैसे बड़ी बाढ़ बहा ले जाती है, वसे ही पुत्र और पशु में लिप्त आसक्त पुरुष को मौत ले जाता है ॥१५॥

२८८–पुत्र रक्षक नहीं हो सकते, न पिता न बन्धु लोग ही। जब मृत्यु आती है, तो ज्ञाति-बन्धु रक्षक नहीं हो सकते ॥१६॥

२८९–इस बात को जानकर पण्डित पुरुष शीलवान् हो, निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग को शीघ्र साफ करे ॥१७॥

मग्गवर्ग समाप्त

२१. पकिण्णकवग्गो

२९०—मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं ।
चजे मत्तासुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥१॥

२९१—परदुक्खूपदानेन अत्तनो सुखमिच्छति ।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न परिमुच्चति ॥२॥

२९२—यं हि किच्चं तदपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति ।
उन्नलानं पमत्तानं तेसं वड्ढन्ति आसवा ॥३॥

२९३—येसञ्च सुसमारद्धा निच्चं कायगता सति ।
अकिच्चं ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिनो ।
सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥४॥

३९४—मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये ।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनीघो यादि ब्राह्मणो ॥५॥

२९५—मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये ।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥६॥

२१. पकिण्णकवग्ग

२९०—थोड़े सुख के परित्याग से यदि अधिक सुख प्राप्ति की सम्भावना देखे, तो बुद्धिमान् पुरुष अधिक सुख के खयाल से अल्प सुख का त्याग कर दे ॥१॥

२९१—दूसरे को दुःख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वैर के संसर्ग में आया हुआ वह व्यक्ति वैर से नहीं छूट सकता है ॥२॥

२९२—जो कर्तव्य है उसे छोड़ता है, किन्तु जो अकर्तव्य है उसे करता है। ऐसे जड़ बुद्धिवाले प्रमादियों के आश्रव बढ़ते हैं ॥३॥

२९३—जिन्हें नित्य कायगता-स्मृति उपस्थित रहती है, वे अकर्तव्य को नहीं करते, कर्तव्य को निरन्तर करने वाले होते हैं। (उन) स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त (पुरुषों) के आश्रव अस्त हो जाते हैं ॥४॥

२९४—माता (=तृष्णा), पिता (=अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं (=शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि) और अनुचर के साथ सारे राष्ट्र (=संसार की सारी आसक्तियाँ) को मारकर ब्राह्मण (=क्षीणाश्रव) दुःख रहित हो जाता है ॥५॥

२९५—माता, पिता, दो श्रोत्रिय (=ब्राह्मण) राजाओं (शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि) और पाँचवें व्याघ्र (=पाँच नीवरण) को मारकर ब्राह्मण दुःख-रहित होता है ॥६॥

२९६–सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति ॥७॥

२९७–सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति ॥८॥

२९८–सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं सङ्घगता सति ॥९॥

२९९–सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति ॥१०॥

३००–सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो ॥११॥

३०१–सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो ॥१२॥

३०२–दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खो'समानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न च अद्धगू सिया दुक्खानुपतितो सिया ॥१३॥

३०३–सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ॥१४॥

३०४–दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो'व पब्बतो।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा ॥१५॥

३०५–एकासनं एकसेय्यं एकोचरमतन्दितो।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया ॥१६॥

पकिण्णकवग्गो निट्ठितो

२९६–जिन्हें दिन-रात नित्य बुद्धानुस्मृति बनी रहती है, वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदा स्मृति के साथ जागरूक रहते हैं ॥७॥

२९७–जिन्हें दिन-रात नित्य धर्मानुस्मृति बनी रहती हैं, वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदा स्मृति के साथ जागरूक रहते हैं ॥८॥

२९८–जिन्हें दिन-रात नित्य संघानुस्मृति बनी रहती है, वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदा स्मृति के साथ जागरूक रहते हैं ॥९॥

२९९–जिन्हें दिन-रात नित्य कायगता-स्मृति बनी रहती है, वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदा स्मृति के साथ जागरूक रहते हैं ॥१०॥

३००–जिनका मन दिन-रात अहिंसा में रत रहता है, वे गौतम (-बुद्ध) के शिष्य सदा स्मृति के साथ जागरूक रहते हैं ॥११॥

३०१–जिनका मन दिन-रात भावना में रत रहता है, वे गौतम (-बुद्ध) के शिष्य सदा स्मृति के साथ जागरूक रहते हैं ॥१२॥

३०२–कष्टपूर्ण प्रव्रज्या में रत होना दुष्कर है, न रहने योग्य घर दुःखद है, न अनुकूल मनुष्य के साथ निवास करना दुःखद है, (संसार रूपी-) मार्ग का पथिक न बने, न दुःख में पड़े ॥१३॥

३०३–श्रद्धावान्, शीलवान, यश और भोग से युक्त (पुरुष) जिस-जिस स्थान में जाता है, वहीं-वहीं पूजित होता है ॥१४॥

३०४–सत्पुरुष दूर रहने पर भी हिमालय पर्वत की भाँति प्रकाशमान होते हैं और असत्पुरुष पास में भी होने पर रात में फेंके बाण की भाँति नहीं दिखलाई देते ॥१५॥

३०५–एक ही आसन रखनेवाला, एक शय्या रखनेवाला, अकेला विचरनेवाला बन, आलस्य रहित हो, अपने को दमन कर अकेला ही वन में आनन्द से रहता है ॥१६॥

पकिण्णकवर्ग समाप्त

२२. निरयवग्गो

३०६–अभूतवादी निरयं उपेति यो चापि
कत्वा 'न करोमि' ति चाह ।
उभो'पि ते पेच्च समा भवन्ति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥१॥

३०७–कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असञ्ञता ।
पापा पापेहि कम्मेहि निरयन्ते उपपज्जरे ॥२॥

३०८–सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥३॥

३०९–चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो
आपज्जति परदारूपसेवी ।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं
निन्दं ततियं निरयं चतुत्थं ॥४॥

३१०–अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका
भीतस्स भीताय रती च थोकिका ।
राजा च दण्डं गरुकं पणेति
तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥५॥

२२. निरयवर्ग

३०६–असत्यवादी नरक में जाता है और वह भी जो कि करके 'नहीं किया'—कहता है। दोनों ही प्रकार के नीच कर्म करनेवाले मनुष्य मरकर समान होते हैं ॥१॥

३०७–कंठ में काषाय वस्त्र डाले कितने ही पापी असंयमी हैं, जो पापी अपने पाप कर्मों से नरक में उत्पन्नहोते हैं ॥२॥

३०८–असंयमी दुराचारी हो, राष्ट्र का पिन्ड खाने से अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है ॥२॥

३०९–प्रमादी, परस्त्रीगामी मनुष्य की चार गतियाँ हैं—अपुण्य का लाभ, सुख से न निद्रा, तीसरे निन्दा और चौथे नरक ॥४॥

३१०–(अथवा) अपुण्य लाभ, बुरी गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यल्प रति और राजा का भारी दण्ड देना। इसलिए मनुष्य को परस्त्रीगमन नहीं करना चाहिए ॥५॥

३११–कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकन्तति ।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयायूपकड्ढति ॥६॥

३१२–यं किञ्चि सिथिलं कम्मं
सङ्किलिट्ठं च यं वतं ।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं
नं तं होति महप्फलं ॥७॥

३१३–कयिरा चे कयिराथेतं दल्हमेनं परक्कमे ।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं ॥८॥

३१४–अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं ।
कतञ्च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति ॥९॥

३१५–नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं ।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा ।
खणातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समप्पिता ॥१०॥

३१६–अलज्जिताये लज्जन्ति लज्जिताये न लज्जरे ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥११॥

३१७–अभये च भयदस्सिनो भये च भयदस्सिनो ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१२॥

३१८–अवज्जे वज्जमतिनौ वज्जे चावज्जदस्सिनो ।
मिच्छादिट्ठसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१३॥

३१९–वज्जञ्च वज्जतो ञत्वा अवज्जञ्च अवज्जतो ।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥१४॥

निरयवग्गो निट्ठितो

३११—जैसे ठीक से न पकड़ने से कुश हाथ को ही छेदता है, (इसी प्रकार) श्रामण्य भाव ठीक से न ग्रहण करने पर नरक में जाता है ॥६॥

३१२—जो कर्म शिथिल है, जो व्रत मलयुक्त है और जो ब्रह्मचर्य अशुद्ध है; वह महाफल [—दायक] नहीं होता है ॥७॥

३१३—यदि [प्रव्रज्या कर्म] करना है तो उसे करे, उसमें दृढ़ पराक्रम के साथ लग जावे ढीला ढाला श्रमण अधिक मल बिखेरता है ॥८॥

३१४—दुष्कृत [=पाप] का न करना श्रेष्ठ है, दुष्कृत करने वाला पीछे अनुताप करता है। सुकृत का करना श्रेष्ठ है, जिसको करके (मनुष्य) अनुताप नहीं करता ॥९॥

३१५—जैसे सीमान्त का नगर भीतर-बाहर खूब रक्षित होता है; उसी प्रकार अपने को सम्भाल कर रखे। क्षण भर भी न चूके (समय बीत जाने पर) लोगों को नरक में पड़कर शोक करना होता है ॥१०॥

३१६—लज्जा न करने की बात में जो लज्जित होते हैं और लज्जा करने की बात में लज्जित नहीं होते—वे प्राणी मिथ्या-दृष्टि को ग्रहण करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥११॥

३१७—भय न करने की बात में भय देखते हैं और भय करने की बात में भय नहीं देखते—वे प्राणी मिथ्यादृष्टि को ग्रहण करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥१२॥

३१८—जो अदोष में दोष-बुद्धि रखनेवाले हैं और दोष में अदोष दृष्टि रखने वाले हैं वे प्राणी मिथ्या-दृष्टि को ग्रहण करके दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥१३॥

३१९—दोष को दोष जानकर और अदोष को अदोष जानकर प्राणी सम्यक्-दृष्टि को धारण करके सुगति को प्राप्त होते हैं ॥१४॥

निरयवर्ग समाप्त

२३. नागवग्गो

३२०—अहं नागो'व सङ्गामे चापातो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥१॥

३२१—दन्तं नयन्ति समितिं दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु यो'तिवाक्यं तितिक्खति ॥२॥

३२२—वरं अस्सतरा दन्ता आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा अत्तदन्तो ततो वरं ॥३॥

३२३—न हि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति ॥४॥

४२४—धनपालको नाम कुञ्जरो
कटुकप्पभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कवलं न भुञ्जति
सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ॥५॥

२३. नागवर्ग

३२०—जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे बाण को सहन करता है, वैसे ही मैं कटु-वाक्य को सहन करूँगा; क्योंकि संसार में दुःशील लोग ही अधिक हैं ॥१॥

३२१—दान्त (=शिक्षित) (हाथी) को युद्ध में ले जाते हैं, दान्त पर राजा चढ़ता है, मनुष्यों में भी दान्त (=अपना दमन किया हुआ) श्रेष्ठ है, जो (दूसरों के) कटु- वाक्यों को सहन करता है ॥२॥

३२२—खच्चर, अच्छी जाति के घोड़े और महानाग हाथी दमन कर लिए जाने पर अच्छे होते हैं। जिसने अपने को दमन कर लिया है, वह उनसे अच्छा है ॥३॥

३२३—इन (घोड़े, गाड़ी आदि) यानों से कोई निर्वाण की ओर नहीं जा सकता। अपने को जिसने दमन कर लिया है, वही सुदान्त वहाँ तक पहुँच सकता है ॥४॥

३२४—सेना को तितर-बितर करने वाला, दुर्धर्ष धनपालक नामक हाथी, बन्धन में पड़ जाने पर कवल नहीं खाता, और (अपने) हाथियों के जंगल को स्मरण करता है ॥५॥

३२५–मिद्धी यदा होति महग्घसो च
निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो'व निवापपुट्ठो
पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥६॥

३२६–इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।
तदज्ज'हं निग्गहेस्सामि योनिसो
हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥७॥

३२७–अप्पमादरता होथ सचित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथ'त्तानं पङ्के सत्तो'व कुञ्जरो ॥८॥

३२८–स चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारि धीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि
चरेय्य तेन'त्तमनो सतीमा ॥९॥

३२९–नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिंचरं साधुविहारिधीरं।
राजा'व रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे मातङ्ग'रञ्ञेव नागो ॥१०॥

३३०–एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा
अप्पोस्सुक्को मातङ्ग'रञ्ञे'व नागो ॥११॥

३२५–आलसी, बहुत खानेवाला, निद्रालु, करवट बदल-बदलकर सोनेवाला खिला-पिला कर पुष्ट किये मोटे सूअर की तरह मन्द बार-बार गर्भ में पड़ता है ॥६॥

३२६–पहले यह चित्त मनमाना जिधर चाहा उधर स्वच्छन्द जाता रहा लेकिन आज मैं इसे अच्छी तरह अपने वश में लाऊँगा—अंकुश ग्रहण करनेवाला जैसे भड़के हाथी को ॥७॥

३२७–अप्रमाद में रत होओ, अपने चित्त की रक्षा करो। पंक में फँसे हाथी की तरह इस कठिन संसार से अपना उद्धार करो ॥८॥

३२८–यदि साथ विचरण करनेवाला अनुकूल पंडित मित्र मिल जाये, तो सभी विघ्नों को दूर कर उसके साथ स्मृतिमान् और प्रसन्न होकर विहार करे ॥९॥

३२९–यदि साथ विचरण करने वाला अनुकूल पण्डित मित्र न मिले तो राजा की भाँति, पराजित राष्ट्र को छोड़कर जाने वाले मातङ्ग हस्तिराज के समान अकेला विचरण करे ॥१०॥

३३०–अकेला रहना उत्तम है। मूर्ख के साथ मित्रता अच्छी नहीं। अकेले विचरे, पाप न करे। हस्तिराज की तरह अनुत्सुक होकर रहे ॥११॥

३३१—अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया
तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसङ्खयम्हि
सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहाणं ॥१२॥

३३२—सुखा मत्तेय्यता लोके अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥१३॥

३३३—सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं ॥१४॥

नागवग्गो निट्ठितो

३३१—काम पड़ने पर मित्रों का होना सुखकर है। जो मिले उससे सन्तुष्ट रहना सुखकर है। मृत्यु के उपरान्त पुण्य सुखद है। सभी दुःखों का प्रहाण सुखद है ॥१२॥

३३२—संसार में माता और पिता की सेवा सुखकर है। श्रमण-भाव (=संन्यास) सुखकर है और ब्राह्मणपन (—निष्पाप होना) सुखकर है ॥१३॥

३३३—वृद्धावस्था तक शील का पालन करना सुखकर है, स्थिर श्रद्धा का होना सुखकर है। ज्ञान का लाभ करना सुखकर है। पापों को न करना सुखकर है ॥१४॥

नागवर्ग समाप्त

२४. तण्हावग्गो

३३४–मनुजस्स पमत्तचारिनो
तण्हा वड्ढति मालुवा विय ।
सो प्लवति हुराहुरं
फलमिच्छं'व वनस्मिं वानरो ॥१॥
३३५–यं एसा सहती जम्मी तण्हा लोके विसत्तिका ।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवट्ठं'व वीरणं ॥२॥
३३६–यो चेतं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं ।
सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दू'व पोक्खरा ॥३॥
३३७–तं वो वदामि भद्दं वो, यावन्तेत्थ समागता
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थो'व वीरणं
मा वो नलं, व सोतो व
मारो भंजि पुनप्पुनं ॥४॥
३३८–यथापि मूले अनुपद्दवे दल्हे
छिन्नो'पि रुक्खो पुनरेव रूहति ।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते
निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥५॥
३३९–यस्स छत्तिंसती सोता मनापस्सवना भुसा ।
वाहा वहंति दुद्दिट्ठिं सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥६॥

२४. तण्हावग्ग

३३४–प्रमत्त होकर आचरण करनेवाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा-लता की भाँति बढ़ती है, वन में फल की इच्छा से कूद- फाँद करने वाले वानर की तरह वह जन्मजन्मान्तर में भटकता रहता है ॥१॥

३३५–यह विष रूपी नीच तृष्णा जिसे अभिभूत कर देती है, उसके शोक वर्षाकाल में वीरण तृण की भाँति वृद्धि को प्राप्त होते हैं ।।२॥

३३६–जो संसार में इस दुस्त्याज्य नीच तृष्णा को जीत लेता है, उसके शोक उस तरह गिर जाते हैं जैसे कमल के ऊपर से जल के बिन्दु ॥३॥

३३७–इसलिए मैं तुम्हें, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारे कल्याण के लिए कहता हूँ—'जैसे खस के लिए लोग उषीर को खोदते हैं, वैसे ही तुम तृष्णा की जड़ खोदो । मत तुम्हें स्रोत में (उत्पन्न) नरकुल की भाँति मार बार-बार तोड़ कर फेंके ॥४॥

३३८–जैसे मूल के बिलकुल नष्ट हो जाने से कटा हुआ वृक्ष फिर भी बढ़ जाता है, वैसे तृष्णा और अनुशय के समूल नष्ट न होने से यह दुःख-चक्र बार-बार प्रवर्तित होता रहता है ॥५॥

३३९–जिसके छत्तीस स्रोत संसार में प्रिय पदार्थों की ओर अत्यन्त प्रवाहित होते हैं, उसके रागपूर्ण संकल्प उसे दुर्दृष्टि की ओर बहा ले जाते हैं ॥६॥

३४०—सवन्ति सब्बधिसोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तञ्च दिस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥७॥

३४१—सरितानि सिनेहितानि च
सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते सातसिता सुखेसिनो
ते वे जातिजरूपगा नरा ॥८॥

३४२—तसिणाय पुरक्खता पजा
परिसप्पन्ति ससो'व बाधितो।
सञ्ञोजनसङ्गसत्ता
दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥९॥

३४३—तसिणाय पुरक्खता पजा
परिसप्पन्ति ससो'व बाधितो।
तस्मा तसिणं विनोदये
भिक्खु आकङ्खी विरागमत्तनो ॥१०॥

३४४—यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो
वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव पस्सथ
मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥११॥

३४५—न तं दल्हं बन्धनमाहु धीरा
यदायसं दारुजं बब्बजञ्च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु
पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा ॥१२॥

३४०–यह स्रोत सभी ओर बहते हैं। लता फूटकर निकलती है। उस उत्पन्न हुई लता को देखकर उसके मूल को प्रज्ञा से काट डालो ॥७॥

३४१–तृष्णा की धाराएँ प्राणियों को बड़ी प्रिय और मनोहर लगती हैं। सुख के फेर में पड़े उसकी धारा में पड़ते हैं और बार-बार जन्म जरा के चक्र में आते हैं ॥८॥

३४२–तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी, बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं, संयोजनों में फँसे लोग पुनः-पुनः चिरकाल तक दुःख पाते हैं ॥९॥

३४३–तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं, अपने वैराग्य की आकांक्षा रख भिक्षु तृष्णा को दूर करे ॥१०॥

३४४–जो सांसारिक बन्धनों से छूट, वन वास करता हुआ फिर (तप-) वन को छोड़ संसार-तृष्णा (=वन) की ही ओर दौड़ता है, उस व्यक्ति को (वैसे ही) जानो जैसे कोई (बन्धन) से मुक्त पुरुष बन्धन ही की ओर दौड़े ॥११॥

३४५–यह जो लोहे, लकड़ी या रस्सी का बन्धन है, उसे बुद्धिमान् (जन) दृढ़ बन्धन नहीं कहते, वस्तुतः दृढ़ बन्धन है (जो यह) मणि, कुण्डल, पुत्र, स्त्री में इच्छा का होना ॥१२॥

३४६–एतं दल्हं बन्धनमाहु धीरा
ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं ।
एतम्पि छेत्वान परिब्बजन्ति
अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥१३॥

३४७–ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं
सयंकतं मक्कटको'व जालं ।
एतम्पि छेत्वान वजन्ति धीरा
अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ॥१४॥

३४८–मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो
मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू ।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो
न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥१५॥

३४९–वितक्कपमथितस्स जन्तुनो
तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो ।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति
एस खो दल्हं करोति बन्धनं ॥१६॥

३५०–वितक्कूपसमे च यो रतो
असुभं भावयति सदा सतो ।
एस खो ब्यन्तिकाहिति
एसच्छेच्छति मारबन्धनं ॥१७॥

३५१–निट्ठङ्गतो असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणो ।
उच्छिज्ज भवसल्लानि अन्तिमो'यं समुस्सयो ॥१८॥

३५२–वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो ।
अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुब्बापरानि च ।
स वे अन्तिमसारीरो महापञ्ञो
महापुरिसो ति वुच्चति ॥१९॥

३४६–धीर पुरुष इसी को दृढ़-बन्धन, अपहारक शिथिल और दुस्त्याज्य कहते हैं, वह अपेक्षा रहित हो, तथा काम-सुखों को छोड़, इस (दृढ़-) बन्धन को काटकर प्रव्रजित होते हैं ॥१३॥

३४७–जो राग में रक्त हैं, वे जैसे मकड़ी अपने बनाये जाल को पकड़ती है, (वैसे ही) अपने बनाये, स्रोत में पड़ते हैं। धीर (पुरुष) इस (स्रोत) को भी काटकर सारे दुःखों को छोड़ आकांक्षारहित हो चल देते हैं ॥१४॥

३४८–भूत, भविष्यत् और वर्तमान् के (सभी स्कन्धों को) त्याग दो, (उन्हें त्याग) भव को पार हो, सभी से मुक्त मनवाला हो, फिर जन्म और जरा को नहीं प्राप्त होंगे ॥१५॥

३४९–जो प्राणी सन्देह से मथित, तीव्र राग से युक्त, शुभ ही शुभ देखनेवाला है, उसकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती है, वह (अपने लिए) और भी दृढ़ बन्धन बनाता है ॥१६॥

३५०–सन्देह के शान्त हो जाने में जो रत है, सदा सचेत रह (जो) अशुभ की भावना करता है, वह मार के बन्धन को छिन्न करेगा, तृष्णा का विनाश करेगा ॥१७॥

३५१–जिसने अर्हत्व पा लिया है, जो (राग आदि के त्रास से) निर्भीक है जो तृष्णा रहित और निर्मल है, जिसने भव के शल्यों को काट दिया, यह उसका अन्तिम देह है ॥१८॥

३५२–जो तृष्णा-रहित, परिग्रह रहित, निरुक्ति और पद (=चार प्रतिसम्भिदा) का जानकार है, और जो अक्षरों को पहले पीछे रखना जानता है, वही अन्तिम शरीर वाला तथा महाप्रज्ञ कहा जाता है॥१९॥

३५३—सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो ।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो
सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥२०॥

३५४—सब्बदानं धम्मदानं जिनाति
सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति ।
सब्बं रतिं धम्मरती जिनाति
तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥२१॥

३५५—हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो च पारगवेसिनो ।
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अञ्ञे'व अत्तनं ॥२२॥

३५६—तिणदोसानि खेत्तानि रागदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२३॥

३५७—तिणदोसानि खेत्तानि दोसदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतदोसेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२४॥

३५८—तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२५॥

३५९—तिणदोसानि खेत्तानि इच्छादोसा अयं पजा ।
तस्मा हि विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२६॥

तण्हावग्गो निट्ठितो

३५३–मैं (राग आदि) सभी को परास्त करनेवाला हूँ, सभी बातों का जानकार हूँ, सभी धर्मों (=तृष्णा दृष्टि आदि) में अलिप्त हूँ सर्वत्यागी हूँ, तृष्णा के नाश से मुक्त हूँ, (विमल ज्ञान को) अपने ही जानकर (मैं अब) किसको अपना गुरु बतलाऊँ ? ॥२०॥

३५४–धर्म का दान सारे दानों से बढ़ कर है, धर्म-रस सारे रसों से प्रबल है, धर्म में रति सब रतियों से बढ़कर है। तृष्णा का क्षय सारे दुःखों के क्षय से बढ़कर है। ॥२१॥

३५५–संसार को पार होने की कोशिश न करने वाले दुर्बुद्धि (पुरुष) को भोग नष्ट करते हैं, भोग-तृष्णा में पड़कर (वह) दुर्बुद्धि पराये की भाँति अपने ही को हनन करता है ॥२२॥

३५६–खेतों का दोष तृण है, प्रजा का दोष राग है इसलिए राग-रहित व्यक्तियों को दान देने में महाफल होता है ॥२३॥

३५७–खेतों का दोष तृण है, इस प्रजा का दोष द्वेष है, इसलिए द्वेष रहित व्यक्तियों को दान देने में महाफल होता है ॥२४॥

३५८–खेतों का दोष तृण है, इस प्रजा का दोष मोह है, इसलिए मोहरहित व्यक्तियो को दान देने में महाफल होता है ॥२५॥

३५९–खेतों का दोष तृण है, इस प्रजा का दोष इच्छा है, इसलिए इच्छारहित व्यक्तियों को दान देने में महाफल होता है ॥२६॥

तण्हावर्ग समाप्त

२५. भिक्खुवग्गो

३६०–चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो ॥१॥

३६१–कायेन संवरो साधुसाधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधुसाधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥२॥

३६२–हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो
वाचाय सञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो।
अज्झत्तारतो समाहितो
एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ॥३॥

३६३–यो मुखसञ्ञतो भिक्खु मन्ताभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मञ्च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ॥४॥

३६४–धम्मारामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु सद्धम्मा न परिहायति ॥५॥

३६५–सलाभं नातिमञ्ञेय्य नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खू समाधिं नाधिगच्छति ॥६॥

२५. भिक्खुवर्ग

३६०–आँख का संवर (=संयम) भला है, भला है कान का संवर, घ्राण का संवर, भला है, भला है जीभ का संवर ॥१॥

३६१–शरीर का संवर भला है भला है वचन का संवर, भला है मन का संवर भला है सर्वत्र (इन्द्रियों) का संवर। सर्वत्र संवर-युक्त भिक्षु सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥२॥

३६२–जिसके हाथ पैर और वचन में संयम है, जो उत्तम संयमी है जो घट के भीतर (=अध्यात्म) रत, समाधियुक्त, अकेला और सन्तुष्ट है, उसे भिक्षु कहते हैं ॥३॥

३६३–जो वानी में संयम रखता है, मनन करके बोलता है, उद्धत नहीं होता है, अर्थ और धर्म को प्रगट करता है, उसका भाषण मधुर होता है ॥४॥

३६४–धर्म में रमण करने वाला, धर्म में रत, धर्म का चिन्तन करते, धर्म का अनुस्मरण करते भिक्षु सद्धर्म से च्युत नहीं होता ॥५॥

३६५–अपने लाभ की अवहेलना नहीं करना चाहिये। दूसरों के लाभ की चाह (=स्पृहा) नहीं करनी चाहिये। दूसरों के लाभ की चाह करनेवाला भिक्षु समाधि को नहीं प्राप्त करता ॥६॥

३६६–अप्पलाभो'पि चे भिक्खु सलाभं नातिमञ्ञति ।
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्दितं ।।७।।

३६७–सब्बसो नाम रूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं ।
असता च न सोचति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ।।८।।

३६८–मेत्ताविहारी यो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं ।।९।।

३६९–सिञ्च भिक्खु ! इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति ।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानमेहिसि ।।१०।।

३७०–पंच छिन्दे पञ्च जहे पञ्च चुत्तरि भावये ।
पञ्चसङ्गातिगो भिक्खु ओघतिण्णो'ति वुच्चति ।।११।।

३७१–झाय भिक्खु ! मा च पमादो
मा ते कामगुणे भमस्सु चित्तं ।
मा लोहगुलं गिली पमत्तो
मा कन्दि दुक्खमिदन्ति डय्हमानो ।।१२।।

३६६—चाहे अल्प ही लाभ हो, जो शुद्ध जीविकावाला और आलस्य रहित भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता है, उसकी देवता प्रशंसा करते हैं ॥७॥

३६७—सारे जगत नामरूप (=पञ्चस्कन्ध) में जिसका कुछ भी मेरा नहीं है, और जो किसी वस्तु के नहीं होने पर शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहा जाता है ॥८॥

३६८—जो मैत्री के साथ विहार करनेवाला बुद्धशासन में प्रसन्न भिक्षु है, वह सभी संस्कारों को शमन करने वाला और सुखमय पद को प्राप्त करता है ॥९॥

३६९—भिक्षु ! इस नाव को उलीचो, उलीचने पर यह तुम्हारे लिये हल्की हो जायगी। राग और द्वेष को नष्टकर, फिर तुम निर्वाण को प्राप्त होगे ॥१०॥

३७०—(सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामराग और व्यापाद इन) पाँच (अवर भागीय संयोजनों) को काटे, (रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या इन) पाँच (ऊर्ध्वभागीय संयोजनों) को छोड़ दे। आगे (उनके प्रहाण के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन) पाँच (इन्द्रियों की) भावना करे, (राग, द्वेष, मोह, मान और मिथ्यादृष्टि इन) पाँच के संसर्ग को अतिक्रमण किये हुए भिक्षु को (काम, भव, दृष्टि और अविद्या के) ओघों (=बाढ़ों) से पार हुआ कहा जाता है ॥११॥

३७१—भिक्षु ! ध्यान में लगो, मत प्रमाद करो, तुम्हारा चित्त मत भोगों के चक्कर में पड़े। प्रमत्त होकर मत लोहे के गोले को निगलो। '(हाय !) यह दुःख' कहकर दग्ध होते (पीछे) मत तुम्हें क्रन्दन करना पड़े ॥१२॥

३७२–नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो ।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके ॥१३॥

३७३–सुञ्ञागारं पविट्ठस्स
सन्तचित्तस्स भिक्खुनो ।
अमानुसी रती होति
सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥१४॥

३७४–यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं ।
लभती पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ॥१५॥

३७५–तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो ।
इन्द्रियगुत्ती सन्तुट्ठी पातिमोक्खे च संवरो ।
मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते ॥१६॥

३७६–पटिसन्थारवुत्तस्स आचारकुसलो सिया ।
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥१७॥

३७७–वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति ।
एवं रागञ्च दोसञ्च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥१८॥

३७८–सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो ।
वन्तलोकामिसो भिक्खु उपसन्तो'ति वुच्चति ॥१९॥

३७९–अत्तना चोदय'त्तानं पटिमंसे अत्तमत्तना ।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खु विहाहिसि ॥२०॥

३७२–प्रज्ञा विहीन (पुरुष) को ध्यान नहीं होता है, ध्यान न करनेवाले को प्रज्ञा नहीं हो सकती। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं, वही निर्वाण के समीप है ॥१३॥

३७३–शून्य गृह में प्रविष्ट, शान्तचित्त भिक्षु को भले प्रकार से धर्म की विपश्यना करते हुए अमानुषी-रति (=आनन्द) होती है ॥१४॥

३७४–जैसे-जैसे भिक्षु (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन) पाँच स्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, (वैसे ही वैसे वह) ज्ञानियों की प्रीति और प्रमोद (रूपी) अमृत को प्राप्त करता है ॥१५॥

३७५–प्रज्ञावान् भिक्षु को इस धर्म में पहले यह करना होता है— इन्द्रियसंयम, सन्तोष और प्रातिमोक्ष की रक्षा। शुद्ध जीविकावाले, निरालस तथा भले मित्रों का साथ करे ॥१६॥

३७६–जो सेवा सत्कार के स्वभाववाला तथा आचार पालन में निपुण है, वह सानन्द दुःख का अन्त करेगा ॥१७॥

३७७–जैसे जूही कुम्हलाये फूलों को छोड़ देती है. वैसे ही भिक्षुओं! राग और द्वेष को छोड़ दो ॥१८॥

३७८–जिसका शरीर और वचन शान्त है, भली प्रकार समाधि-युक्त, शान्ति सहित तथा लोक के आमिष को वमन कर दिये हुए भिक्षु को 'उपशान्त' कहा जाता है ॥१९॥

३७९–जो अपने ही आप को प्रेरित करेगा, अपने ही आपको संलग्न करेगा, वह आत्म-गुप्त (=अपने द्वारा रक्षित) स्मृतिमान् भिक्षु सुख से विहार करेगा ॥२०॥

३८०—अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति ।
तस्मा सञ्ञमयत्तानं अस्सं भद्रं'व वाणिजो ॥२१॥

३८१—पामोज्जबहुलो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं ॥२२॥

३८२—यो ह वे दहरो भिक्खु युञ्जति बुद्धसासने ।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥२३॥

भिक्खुवग्गो निट्ठितो

३८०—मनुष्य अपना स्वामी आप है, अपने ही अपनी गति है, इसलिए अपने को संयमी बनावे, जैसे कि सुन्दर घोड़े को बनिया (संयत करता है) ॥२१॥

३८१—बुद्ध-शासन में प्रसन्न बहुत प्रमोदयुक्त भिक्षु संस्कारों को उपशमन करनेवाले सुखमय शान्तपद को प्राप्त करता है ॥२२॥

३८२—जो दहर (=अल्पवयस्क)- भिक्षु बुद्ध-शासन में संलग्न होता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है ॥२३॥

भिक्खुबर्ग समाप्त

२६. ब्राह्मणवग्गो

३८३–छिन्द सोतं परक्कम्म कामे पनुद ब्राह्मण !
सङ्खारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञू'सि ब्राह्मण ! ॥१॥

३८४–यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो ।
अथस्स सब्बे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥२॥

३८५–यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति ।
वीतद्दरं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३॥

३८६–झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४॥

३८७–दिवा तपति आदिच्चो रत्तिं आभाति चन्दिमा ।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो ।
अथ सब्बमहोरत्तिं बुद्धो तपति तेजसा ॥५॥

३८८–बाहितपापो'ति ब्राह्मणो
समचरिया समणो'ति वुच्चति ।
पब्बाजयमत्तनो मलं
तस्मा पब्बजितो'ति वुच्चति ॥६॥

२६. ब्राह्मणवर्ग

३८३—ब्राह्मण ! (तृष्णा के) स्रोत को काट दे, पराक्रम कर (और) कामनाओं को दूर कर दे। ब्राह्मण ! संस्कारों के क्षय को जानकर अकृत (=निर्वाण) का साक्षात्कार कर लोगे ॥१॥

३८४—जब ब्राह्मण दो धर्मों (=शमथ और विपश्यना चित्त संयम भावना) में पारंगत हो जाता है, तब उस जानकार के सभी बन्धन (=संयोग अस्त हो जाते हैं ॥२॥

३८५—जिसके पार (=आँख, कान, नाक, जीभ, काया, मन), अपार (=रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म) और पारापार (=मैं और मेरा) नहीं है, जो निर्भय और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३॥

३८६—जो ध्यानी, निर्मल, आसन्नबद्ध (=स्थिर) कृतकृत्य, आश्रवरहित है, जिसने उत्तमार्थ (=निर्वाण) को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥४॥

३८७—दिन में सूरज तपता है, रात्रि में चन्द्रमा प्रकाश करता है। कवचबद्ध होने पर राजा तपता है, ध्यानी होने पर ब्राह्मण तपता है और बुद्ध दिन-रात (अपने) तेज से तपते हैं ॥५॥

३८८—जिसने पापों को धोकर बहा दिया है, वह ब्राह्मण है। जो समता का आचरण करता है, वह श्रमण है, (चूंकि) उसने अपने (चित्त-) मलों को हटा दिया, इसलिए वह प्रव्रजित कहा जाता है ॥६॥

३८९—न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुंचेथ ब्राह्मणो ।
धी ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धी यस्स मुञ्चति ।।७।।

३९०—न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो
यदा निसेधो मनसो पियेहि ।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति
ततो ततो सम्मति एव दुक्खं ।।८।।

३९१—यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं ।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।९।।

३९२—यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्बुद्धदेसितं ।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं'व ब्राह्मणो ।।१०।।

३९३—न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ।।११।

३९४—किं ते जटाहि दुम्मेध ! किं ते अजिनसाटिया ।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ।।१२।।

३९५—पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं ।
एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।१३।।

३९६—न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं ।
'भोवादी' नाम सो होति स चे होति सकिञ्चनो ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।१४।।

३८६–ब्राह्मण (=निष्पाप) पर प्रहार नहीं करना चाहिए और ब्राह्मण को भी उस (प्रहारदाता) पर (कोप) नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण को जो मारता है उसे धिक्कार है और धिक्कार है उसको भी जो (उसके लिए) कोप करता है ॥७॥

३९०–ब्राह्मण के लिए यह बात कम कल्याणकारी नहीं है, जो वह प्रिय (पदार्थों) से मन को हटा लेता है, जहाँ-जहाँ मन हिंसा से मुड़ता है, वहाँ-वहाँ दुःख अवश्य ही शान्त हो जाता है ॥८॥

३९१–जिसके मन, वचन और काय से दुष्कृत (=पाप) नहीं होते, (जो इन) तीनों ही स्थानों से संवरयुक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥९॥

३९२–जिस (आचार्य) से सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म को जाने, उसे वैसे ही सत्कार-पूर्वक नमस्कार करे, जैसे अग्निहोत्र को ब्राह्मण ॥१०॥

३९३–न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है, जिसमें सत्य और धर्म है, वही शुचि (=पवित्र) और वही ब्राह्मण है ॥११॥

३९४–हे दुर्बुद्धि ! जटाओं से तेरा क्या (बनेगा,) और मृगचर्म के पहनने से तेरा क्या होगा ? भीतर (मन) तो तेरा (राग आदि मलों से) परिपूर्ण है, बाहर क्या धोता है ? ॥१२॥

३९५–जो पांशुकूल (=फटे चीथड़ों से बना चीवर) को धारण करता है, जो दुबला-पतला और नसों से मढ़े शरीरवाला है, जो अकेला वन में ध्यानरत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥१३॥

३९६–माता (तथा कथित ब्राह्मण) की योनि से उत्पन्न होने के कारण किसी को मैं ब्राह्मण नहीं कहता। यदि वह धन सम्पन्न है, तो केवल 'भो वादी' है। मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही और त्यागी है ॥१४॥

३९७–सब्बसञ्ञोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति ।
सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१५॥

३९८–छेत्वा नद्धिं वरत्तञ्च सन्दामं सहनुक्कमं ।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१६॥

३९९–अक्कोसं वधबन्धञ्च अदुट्ठो यो तितिक्खति ।
खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१७॥

४००–अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सुतं ।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥

४०१–वारि पोक्खरपत्ते'व आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१९॥

४०२–यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो ।
पन्नभारं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२०॥

४०३–गम्भीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२१॥

४०४–असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं ।
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२२॥

४०५–निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२३॥

४०६–अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं ।
सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२४॥

३९७–जो सारे संयोजनों (=बन्धनों) को काटकर (तृष्णा से) नहीं डरता है, उस (राग आदि के) संग और आसक्ति से विरत को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥१५॥

३९८–नद्धि (=क्रोध), हस्सी (=तृष्णा) पगहे (=६२ प्रकार की दृष्टियाँ), और जावे (=अनुशय) को काटकर तथा जूये (=अविद्या) को फेंक जो बुद्ध हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥१६॥

३९९–जो बिना दूषित (चित्त) किये गाली, वध और बन्धन को सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसके बल (=सेना) का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥१७॥

४००–जो क्रोध न करनेवाला, व्रती, शीलवान्, अनुत्सुक, दान्त (संयमी), और अन्तिम शरीरवाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥१८॥

४०१–कमल के पत्ते पर जल और आरे के नोक पर सरसों की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥१९॥

४०२–जो यहीं (इसी जन्म में) दुःख के विनाश को जान लेता है, जिसने अपने बोझ को उतार फेंका और जो आसक्ति रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२०॥

४०३–जो गम्भीर प्रज्ञावाला, मेधावी, मार्ग-अमार्गका ज्ञाता, उत्तम अर्थ (=निर्वाण) को पाये है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२१॥

४०४–गृहस्थ और बेघरवाले दोनों ही से जो संसर्ग नहीं रखता है, जो बिना ठिकाने के घूमता अल्पेच्छ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२२॥

४०५–जो चर-अचर प्राणियों की हिंसा से विरत है, जो न किसी को मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२३॥

४०६–जो विरोधियों के बीच विरोध रहित है, जो दण्डधारियों के बीच दण्ड रहित है, संग्रह करनेवालों में जो संग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२४॥

४०७–यस्स रागो च दोसो च मानोमक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२५॥

४०८–अकक्कसं विञ्ञपनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे किञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

४०९–यो'ध दीघं व रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२७॥

४१०–आसा यस्स न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च।
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥

४११–यस्सालया न विज्जन्ति अञ्ञाय अकथंकथी।
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२९॥

४१२–यो'ध पुञ्ञञ्च पापञ्च उभो सङ्गं उपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥

४१३–चन्दं'व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥

४१४–यो इमं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो झायी अनेजो अकथंकथी।
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥

४१५–यो'ध कामे पहत्वान अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥

४०७—आरे के ऊपर सरसों की भाँति, जिसके (चित्त से) राग, द्वेष, मान, म्रक्ष, (अमरख) फेंक दिये गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२५॥

४०८—जो ऐसे अकर्कश, सार्थक और सत्य वचन को बोले, जिससे कुछ भी पीड़ा न होवे, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२६॥

४०९—जो दीर्घ, ह्रस्व, मोटी या पतली, शुभ अथवा अशुभ—संसार में (किसी भी) बिना दी गई वस्तु को नहीं लेता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२७॥

४१०—इस लोक और परलोक के विषय में जिसकी आशायें (—तृष्णा चाह) नहीं रह गयी है, जो आशा रहित और आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२८॥

४११—जिसे आलय (—तृष्णा) नहीं है, जो जानकर संशय रहित हो गया है तथा जिसने पैठकर अमृत-पद निर्वाण को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२९॥

४१२—जिसने यहाँ पुण्य और पाप दोनों की आसक्ति को छोड़ दिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३०॥

४१३—जो चन्द्रमा की भाँति विमल, शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल है तथा जिसकी सभी जन्मों की तृष्णा नष्ट हो गई, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३१॥

४१४—जिसने इस दुर्गम संसार, (जन्म-मृत्यु के) चक्कर में डालने-वाले मोह (रूपी) उल्टे मार्ग को त्याग दिया है, जो (संसार से) पारंगत ध्यानी तथा तीर्ण (—तर गया) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।३२॥

४१५—जो यहाँ भोगों को छोड़, बेघर हो प्रव्रजित हो गया है, जिसके भोग और जन्म नष्ट हो गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३३॥

४१६–यो'ध तण्हं पहत्वान अनागारो परिब्बजे ।
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३४॥

४१७–हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा ।
सब्बयोगविसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

४१८–हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च सीतिभूतं निरूपधिं ।
सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

४१९–चुतिं यो वेदि सत्तानं उपपत्तिञ्च सब्बसो ।
असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥

४२०–यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धब्बमानुसा ।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३८॥

४२१–यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९॥

४२२–उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४०॥

४२३–पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायं च पस्सति ।
अथो जातिक्खयं पत्तो अभिञ्ञावोसितो मुनि ।
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४१॥

ब्राह्मणवग्गो निट्ठितो

४१६–जो यहाँ तृष्णा को छोड़, बेघर हो प्रव्रजित हुआ है, जिसकी तृष्णा और जन्म नष्ट हो गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३४॥

४१७–जो मानुषी बन्धनों को छोड़, दिव्य बन्धनों को भी छोड़ चुका है, जो सभी बन्धनों से रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३५॥

४१८–रति और अरति को छोड़ जो शान्त और क्लेश रहित है, (जो ऐसा) सर्वलोक विजयी वीर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३६॥

४१९–जो प्राणियों की च्युति (–मृत्यु) और उत्पत्ति को भली प्रकार जानता है, जो आसक्ति रहित सुगत (सुन्दर गति को प्राप्त) और बुद्ध (—ज्ञानी) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३७॥

४२०–जिसकी गति को देवता, गन्धर्व और मनुष्य नहीं जानते, जो क्षीणाश्रव और अर्हत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३८॥

४२१–जिसके पूर्व, पश्चात्, और मध्य में कुछ नहीं है, जो अकिंचन और परिग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३९॥

४२२–जो ऋषभ (=उत्तम), प्रवर (=श्रेष्ठ), वीर, महर्षि, विजेता, अकम्प्य, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥४०॥

४२३–जो पूर्व जन्म को जानता है, स्वर्ग और अगति (=अपाय) को जिसने देख लिया है, जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो चुका है, जिसकी प्रज्ञा पूर्ण हो चुकी है, जिसने अपना सब कुछ पूरा कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥४१॥

ब्राह्मणवर्ग समाप्त

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

गाथा-सूची

अकक्कसं	२६-२८
अकतं दुक्कतं	२२-९
अक्कोच्छिमं	१-३,४
अक्कोधनं : वतवन्तं	२६-१८
अक्कोधेन जिने	१७-३
अचरित्वा ब्रह्मचरियं	११-१०,११
अक्कोसं वधवन्धञ्च	२६-१७
अचिरं वतयं	३-९
अञ्ञाहि लाभुपनिसा	५-१६
अट्ठीनं नगरं	११-५
अत्तदत्थं	१२-१०
अत्तना चोद-	२५-२०
अत्तनाव कतं	१२-५
अत्तनाव कतं पापं	१२-९
अत्तानञ्चे तथा	१२-३
अत्तानञ्चे पियं	१२-१
अत्तानमेव पठमं	१२-२
अत्ता हवे जितं	८-५
अत्ताहि अत्तनो	२५-२१
अत्ताहि अत्तनो	१२-४
अत्थम्हि जातम्हि	२३-१२
अथ पापानि	१०-८
अथ वस्स	१०-१२
अनवट्ठित चित्तस्स	३-६

अनवस्सुत चित्तस्स	३-७
अनिक्कसावो कासावं	१-९
अनुपुब्बेन मेधावी	१८-५
अनुपवादो अनुपघातो	१४-७
अनेक जाति संसारं	११-८
अन्धभूतो अयं	१३-८
अपि दिब्बेसु	१४-९
अपुञ्ञलाभोच	२२-५
अप्पका ते	६-१०
अप्पमत्तो अयं	४-१३
अप्पमत्तो पमत्तेसु	२-९
अप्पमादरता होथ	२३-८
अप्पमादरतो भिक्खु	२-११,१२
अप्पमादेन मघवा	२-१०
अप्पमादो अमतपदं	२-१
अप्पम्पि चे सहितं	१-२०
अप्पलाभोपि चे	२५-७
अप्पस्सुतायं	११-७
अभये च भय-	२२-१२
अभित्थरेथ	९-१
अभिवादन सीलिस्स	८-१०
अभूतवादी निरयं	२२-१
अयसाव मलं	१८-६
अयोगे युञ्ज	१६-१
अलङ्कतो चेपि	१०-१४
अलज्जिता ये	२२-११
अवज्जे वज्ज	२२-१३

अविरद्धं विरुद्धेसु	२६-२४
असज्झायमला	१८-७
असतं भावन	५-१४
असंसट्ठं	२६-२२
आसारे सारमतिनो	१-११
असाहसेन धम्मेन	१९-२
असुभानुपस्सिं	१-८
अस्सद्धो अकतञ्ञू	७-८
अस्सो यथा भद्रो	१०-१६
अहं नागो व	२३-१
अहिंसका ये	१७-५
आकासे च पदं	१८-२०,२१
आरोग्यपरमा	१५-८
आसा यस्य	२६-२८
इदं पुरे	२३-७
इध तप्पति	१-१७
इध नन्दति	१-१८
इध मोदति	१-१६
इध वस्सं	२०-१४
इध सोचति	१-१५
उच्छिन्द सिनेह	२०-१३
उट्ठानकालम्हि	२०-८
उट्ठानवतो सतिमतो	२-४
उट्ठानेन	२-५
उत्तिट्ठे	१३-२
उदकं हि	६-५
उदकं हि	१०-१७

उपनीतवयो १८-३
उय्युञ्जन्ति ७-२
उसभं पवरं २६-४०
एकधम्मं १३-१०
एकस्स चरितं २३-११
एकासनं एकसेय्यं २१-१६
एतं खो सरणं १४-१४
एतं दल्हं २४-१३
एत मत्थवसं २०-१७
एतंविसेसतो २-२
एतं हि तुम्हे २०-३
एथ पस्सथिमं १३-५
एवम्भो पुरिस १८-१४
एवं संकार भूते ४-१६
एसोव मग्गो २०-२
ओवदेय्य ६-२
कण्हं धम्मं ६-१२
कयिरचे २२-८
कामतो जायते १६-७
कायप्पकोपं १७-११
कायेन संवरो २५-२
कायेन संवुता १७-१४
कासाव कण्ठा २२-२
किच्छो मनुस्स १४-४
किंते जटाहि २६-१२
कुम्भूपमं ३-८
कुसो यथा २२-६

को इमं पठविं	४-१
कोधं जहे	१७-१
खन्ती परमं तपो	१४-६
गतद्धिनो	७-१
गब्भमेके	९-११
गम्भीरपञ्ञं	२६-२१
गहकारक	११-९
गामे वा यदि	७-९
चक्खुना	२५-१
चत्तारि ठानानि	२२-४
चन्दनं तगरं	४-१२
चन्दं' व विमल	२६-३१
चरञ्चे नाधि	५-२
चरन्ति बाला	५-७
चिरप्पवासिं	१६-११
चुतिं यो वेदि	२६-३७
छन्दजातो	१६-१०
छिन्द सोतं	२६-१
छेत्वा नन्दिं	२६-१६
जयं वेरं पसवति	१५-५
जिघच्छा परमा	१५-७
जीरन्ति वे राज	११-६
झाय भिक्खु	२५-१२
झायिं विरज	२६-४
तञ्च कम्मं	५-९
तण्हाय जायते	१६-८
ततो मला	१८-९

तथाभिरति	६-१३
तत्रायमादि	२५-१६
तथेव कत-	१६-१२
तं पुत्त-पसु	२०-१५
तं वो वदामि	२४-४
तसिनाय पुरक्खत्वा	२४-१०,९
तस्मा पियं	१६-३
तस्माहि धीरं	१५-१२
तिणदोसानि	२४-२३.२४,२५,२६
तुम्हेहि किच्चं	२०-४
ते झायिनो	२-३
ते तादिसे	१४-१८
तेसं सम्पन्न	४-१४
ददन्ति वे	१८-१५
दन्तं नयन्ति	२३-२
दिवा तपति	२६-५
दिसो दिसं	३-१०
दीघा जागरतो	५-१
दुक्खं	१४-१३
दुन्निग्गहस्स	३-३
दुप्पब्बज्जं	२१-१३
दुल्लभो	१४-१५
दूरंगमं	३-५
दूरे सन्तो	२१-१५
धनपालको	२३-५
धम्मं चरे	१३-३
धम्मपीती	६-४

धम्मारामो २५-५
न अत्तहेतू ६-९
न अ-त लिक्खे ९-१२,१३
न कहापण १४-८
नगरं यथा २२-१०
न चाहं २६-१४
न चाहु १७-८
न जटाहि २६-११
न तं कम्मं ५-८
न तं दल्हं २४-१२
न तं माता ३-११
न तावता १९-४
न तेन अरियो १९-१५
न तेन थेरो १९-५
न तेन पण्डितो १९-३
न तेन भिक्खू १९-११
न तेन होति १९-१
नत्थि झानं २५-१३
नत्थि राग- १५-६
नत्थि राग १८-१७
न नग्ग- १०-१३
न पेरसं ४-७
न पुप्फगन्धो ४-११
न ब्राह्मणस्स २६-७
न ब्राह्मणस्से २६-८
न भजे ६-३
न मुण्डकेन १९-९

न मोनेन	१६-१३
न वाक्करण-	१६-७
न वे कदरिया	१३-११
न सन्ति पुत्ता	२०-१६
न सीलब्बत	१६-१६
न हि एतेहि	२३-४
न हि पापं	५-१२
न हि वेरेन	१-५
निट्ठं गतो	२४-१८
निधाय दण्डं	२६-२३
निधीन' व	६-१
नेक्खं	१७-१०
नेतं खो सरणं	१४-११
नेव देवो	८-६
नो चे लभेथ	२३-१०
पञ्च छिन्दे	२५-११
पटिसन्थार-	२५-१७
पठिवीसमो	७-६
पण्डुपलासो	१८-१
पथव्या एकरज्जेन	१३-१२
पमादमनु-	२-६
पमादं अप्पमादेन	२-८
परदुक्खूपदानेन	२१-२
परवज्जानु पस्सि-	१८-१६
परिजिण्णमिदं	११-३
परे च न	१-६
पविवेक रसं	१५-६

पंसुकूलधरं २६-१३
पस्स चित्त कतं ११-२
पाणिम्हि चे ९-९
पापञ्चे पुरिसो ९-२
पापानि परि- १९-१४
पापोपि पस्सति ९-४
पामोज्ज बहुलो २५-२२
पियतो जायते १६-४
पुञ्ञंचे पुरिसो ९-३
पुत्ता मत्थि ५-३
पुब्बे निवासं २६-४२
पूजारहे १४-१७
पेमतो जायते १६-५
पोराणमेतं १७-७
फन्दनं चपलं ३-१
फुसामि नेक्खम्म १९-१७
फेणूपमं ४-३
बहुम्पि चे १-१९
बहुं वे सरणं १४-१०
बाल संगतिचारा १५-११
बाहितपापो २६-६
भद्रोपि ९-५
मग्गानट्ठङ्गको २०-१
मत्ता सुखपरिच्चागा २१-१
मधुवा मञ्ञती ५-१०
मनुजस्स पमत्त- २४-१
मनोपकोपं १७-१३

मनो पुब्बङ्गमा	१-१,२
ममेवकत	५-१५
मलित्थिया	१८-८
मातरं पितरं	२१-५,६
मा पमाद-	२-७
मा पियेहि	१६-२
मावमञ्ञेथ पाप-	६-६
मावमञ्ञय पुञ्ञ-	६-७
मा वोच फरूसं	१०-५
मासे मासे कुसग्गेन	५-११
मासे मासे सहस्सेन	८-७
मिद्धी यथा	२३-६
मुञ्च पुरे	२४-१५
मुहुत्तमपि	५-६
मेत्ताविहारी	२५-६
य एसा सहती	२४-२
यं किञ्चि यिट्ठं	८-६
यं किञ्चि सिथिलं	२२-७
यञ्चे विञ्ञू	१७-६
यतो यतो	२५-१५
यथागारं दुच्छन्नं	१-१३
यथागारं सुच्छन्नं	१-१४
यथा दण्डेन	१० ७
यथापि पुप्फ	४-१०
यथापि भमरो	४-६
यथापि मूले	२४-५
यथापि रहदो	६-७

यथापि रुचिरं ४-८,९
यथा बुब्बुलकं १३-४
यथा संकार ४-१५
यथा द्वयेसु २६-१२
यम्हा धम्मं २६-१०
यंहि किच्च २१-३
यम्हि सच्चं च १९-६
यस्स अच्यन्त १२-६
यस्स कायेन २६-९
यस्स गतिं २६-३८
यस्स चेतं १९-८
यस्स छत्तिसती २४-६
यस्स जालिनी १४-२
यस्स जितं १४-१
यस्स पापं १३-७
यस्स पारं अपारं २६-३
यस्स पुरे च २६-३९
यस्स रागो च २६-२५
यस्सालया न २६-२९
यस्सासवा ७-४
यस्सिन्द्रियणि ७,५
यानिमानि ११-४
यावजीवम्पि ५-५
यावदेव अनत्थाय ५-१३
यावं हि वनथो २०-१२
ये च खो ६-११
ये झानपसुता १४-३

ये रागरत्ता	२४-१४
येसं च सुसमा	२१-४
येसं सन्निचयो	७-३
येसं सम्बोधि	६-१४
यो अप्पदुट्ठस्स	९-१०
यो इमं पलिपथं	२६-३२
योगा वे जायती	२०-१०
योच गाथा-	८-३
यो च पुब्बे	१३-६
यो च बुद्धञ्च	१४-१२
यो च वन्तकसाव-	१-१०
यो च वस्ससतं	८-८
यो च समेति	१९-१०
यो चेतं सहती	२४-३
यो दण्डेन	१०-९
यो दुक्खस्स	२६-२०
योध कामे	२६-३३
योध तण्हँ	२६-३४
योध दीघं	२६-२७
योध पुञ्ञं	२६-३०
योध पुञ्ञं	१९-१२
यो निब्बनत्थो	२४-११
यो पाण-	१८-१२
यो बालो	५-४
यो मुख-	२५-४
यो वे उप्पातितं	१७-२
यो सहस्स	८-४

यो सासनं	१२-८
यो हवे दहरो	२५-२३
रतिया जायते	१६-६
रमणीयानि	७-१०
राजतो वा	१०-११
वचीपकोपं	१७-१२
वज्जञ्च वज्जतो	२२-१४
वनं छिन्दथ	२०-११
वरं अस्सतरा	२३-३
वस्सिका विय	२५-१८
वाचानुरक्खी	२०-६
वाणिजो'व	६-८
वारिजो'व	३-२
वितक्क	२४-१६
वितक्कूपसमे च	२४-१७
वीततण्हो	२४-१६
वेदनं फरुसं	१०-१०
सचे नेरेसि	१०-६
सचे लभेथ	२३-६
सच्चं भणे	१७-४
सदाजागरमानानं	१७-६
सद्धो सालेन	२१-१४
सन्तकायो	२५-१६
सन्तं तस्स	७-७
सब्बत्थ वे	६-८
सब्बदानं	२४-२१
सब्बपापस्स	१४-५

सब्बसंञोजनं	२६-१५
सब्बसो नाम	२५-८
सब्बाभिभू	२४-२०
सब्बे तसन्ति	१०-१,२
सब्बे धम्मा	२०-७
सब्बे संखारा	२०-५
सब्बे संखारा	२०-६
सरितानि	२४-८
सलाभं	२५-६
सवन्ति सब्ब	२४-७
सहस्समपि चे गाथा	८-२
सहस्समपि चे वाचा	८-१
साधु दस्सन	१५-१०
सारञ्च	१-१२
सिञ्च भिक्खु	१५-१०
सील दस्सन	१६-९
सुकरानि	१२-७
सुखकामानि	१०-३,४
सुखं याव	२३-१४
सुखा मत्तेय्यता	२३-१३
सुखो बुद्धानं	१४-१६
सुजीवं	१८-१०
सुञ्ञागारं	२५-१४
सुदस्सं वज्जं	१८-१८
सुदुद्दसं	३-४
सुप्पबुद्धं	२१-७,१२
सुभानुपस्सिं	१-७

सुरामेरययाञ्च	१८-१३
सुसुखं वत	१५-२-४
सेखो पठवि	४-२
सेय्यो अयो—	२२-३
सेलो यथा	६-६
सो करोहि	१८-२,४
हत्थसञ्ञतो	२५-३
हनन्ति भोगा	२४-२२
हंसादिच्च	१३-६
हित्वा मानुसक	२६-३५
हित्वा रतिं	२६-३६
हिरीनिसेधो	१०-१५
हिरीमता च	१८-११
हीनं धम्मं	१३-१

गाथा-सूची समाप्त